रवीन्द्र की जो कीर्ति आज देश-विदेश में फैल रही है वह मुख्यतः उनकी कहानियों के कारण है। उनकी कहानियां कथावस्तु और शिल्प की दृष्टि से संसार के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों की रचनाओं के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

'काबुलीवाला' में रवि बाबू की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कहानियां पढ़िए। इस संग्रह की प्रत्येक कहानी अपने-आपमें कहानी-कला का एक नमूना है। इनमें से कई कहानियों पर फिल्में भी बन चुकी हैं।

कहानी

हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटिड
जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-३२
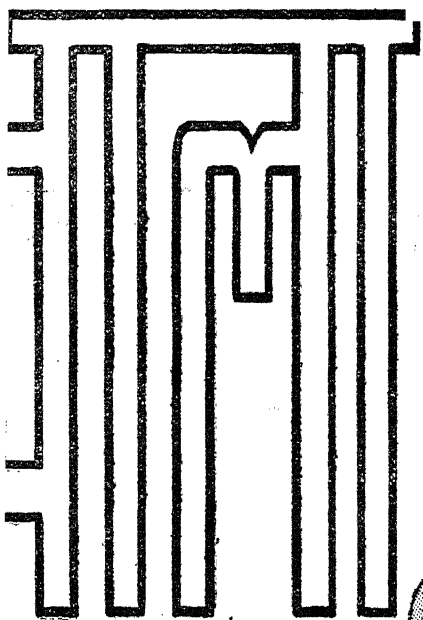
तथा
अन्य कहानियां
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक
प्रबोधकुमार मजुमदार

प्रकाशक : हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटिड
जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली
मूल्य : एक रुपया
मुद्रक : शिक्षा भारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली

KABULIWALA : RAVINDRA NATH TAGORE :
SHORT STORIES

निवेदन

हे महान,

अपने कथा-साहित्य के अन्त:करण की ओर संकेत करते हुए तुमने लिखा था :

"...मैं कहूंगा, मेरी कहानियों में कहीं पर भी यथार्थता की कमी नहीं हुई है। जो कुछ मैंने लिखा है, वह अपनी आंखों से देखा हुआ, हृदय से अनुभव किया हुआ—वह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव था। कहानियों में मैंने जो कुछ लिखा है, उसके मूल में मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है—अपनी आंखों-देखी घटनाएं और चरित्र हैं। उनको केवल रागात्मक कल्पना से प्रेरित मानना ठीक नहीं होगा। सोचकर देखने से तुम्हें पता लगेगा कि जो छोटी-छोटी कहानियां मैंने लिखीं हैं, उन्हींमें सबसे प्रथम बंगाली समाज के वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्र चित्रित हुआ है।"

फिर भी तुम्हारे कथा-साहित्य में जो प्रकृति का सहज संगीत व्याप्त है—समाज के पीड़ित एवं दलित अन्त:करण की जो भावनाएं उतर आई हैं, उनमें जो स्वाभाविक काव्य है वह इन कथाओं का अपना व्यक्तित्व—अपनी विशिष्टता है। विशाल और गम्भीर सरिता के पूर्वरूप निर्झरों में जो संगीत व्याप्त रहता है—प्रभात के मधुर कारा में जो राग प्राणों में अलसाए जागरण को पुकारा करता है—वह उनमें व्यक्तित्व के माधुर्य के समान व्याप्त है।

कला जीवन की व्यर्थता की भावना के प्रति विद्रोह है न? सहसा विद्रोह नहीं—सतत रूप से धारा के रूप में विकासमान विद्रोह....।

अपनी ग्राम्य-जीवन-प्रधान कहानियों के विषय में तुमने लिखा था :

"मुझे शंका है, एक समय 'गल्पगुच्छ' बुर्जुआ लेखकों के संसर्ग-

दोष से अ-साहित्य के रूप में अस्पृश्य हो जाएगा। अभी, जब मेरी कहानियों का श्रेणी-विचार किया जाता है तो उन रचनाओं का उल्लेख भी नहीं किया जाता—मानो उनका अस्तित्व ही नहीं है। जात-पांत का रोग हमारे खून में है; इसलिए डर लगता है; पर इस हरेरी को उखाड़ फेंकना भी मुश्किल होगा।"

साहित्य सामाजिक यथार्थ की ओर अनेक रूपों में आकर्षित होता है। तुम्हारे कथा-साहित्य के संगीत को अन्य कलाकार चाहे आत्मसात् न करे सके हों, परन्तु सामाजिक यथार्थ के चित्रण की ओर से कलाकार विमुख नहीं हुए। अभिव्यक्ति की यह धारा समय के साथ साथ विस्तृत और गम्भीर होती चली गई।

हम यह नहीं भूल सकते कि यह सामाजिक यथार्थ का, साहित्य के देवप्रतिष्ठित तथा राजप्रतिष्ठित प्रासाद में, सामान्य व्यक्ति का नायक या नायिका के रूप में प्रथम पदार्पण था। साहित्यिक प्रतिष्ठा में सामान्य लोक की तुम्हारी प्रथम दीक्षा थी।

जैसे साहित्य की प्रतिभा ने दुर्दशाग्रस्त समाज को देखकर करुणाप्लावित हृदय से कहा हो, "तुम्हारी यह दशा?..."

इन कहानियों के चयन में मैंने कथावस्तु और उनके आकार-विस्तार पर विशेष ध्यान दिया है। यही कारण है कि तुम्हारे परवर्ती कथा-साहित्य का परिचय इस संकलन में नहीं है। तुम्हारी इन कहानियों के अनुवाद में मैंने न तो अनावश्यक समझकर कुछ अंशों का परित्याग किया और न व्याख्या करने के लिए मैंने अनावश्यक विस्तार ही दिया है।

हिन्दी के सहृदय पाठकों को तुम्हारी कहानियों का यह संकलन भेंट करते हुए, गंगाजल से गंगापूजा की तरह तुम्हारी अनुपम रचनाएं तुम्हींपर अर्घ्य चढ़ाता हूं।

—सम्पादक

काबुलीवाला तथा अन्य कहानियां

१ | धूप और बादल

(मेघ ओ रौद्र)

कल पानी बरस चुका था। आज सवेरे वर्षा रुक गई थी। फीकी धूप और बादल के खण्ड बारी-बारी से अपनी तूलिकाएं अधपके बरसाती धान के खेतों पर फेरते चले जा रहे थे। पसरा हुआ हरा चित्रपट एक बार प्रकाश के स्पर्श से उज्ज्वल पीले रंग का हो जाता तो दूसरे ही क्षण छाया के स्पर्श से गाढ़ी स्निग्धता में अंकित हो जाता था।

जिस समय सारे आकाश के रंगमंच पर धूप और बादल—केवल दो अभिनेता—अपनी-अपनी भूमिका का अभिनय कर रहे थे, उस समय नीचे संसार की रंगभूमि पर कितने ही स्थानों पर कितने प्रकार के अभिनय चल रहे थे जिसका कोई हिसाब-किताब नहीं है।

हम लोगों ने जिस जगह पर क्षुद्र जीवन-नाट्य का पर्दा उठाया है वहां गांव में रास्ते के किनारे पर एक मकान दिखाई पड़ रहा है। बाहर का केवल एक कमरा पक्का बना हुआ है और उस कमरे के दोनों ओर से जो टूटी ईंटों की दीवार चली गई है, वह मिट्टी की बनी चन्द कच्ची कोठरियों को घेरे हुए है। रास्ते पर से ही, सीखचे लगी खिड़की से दिखाई पड़ रहा है कि एक युवक तख्त पर नंगे बदन बैठा, बायें हाथ से ताड़ का पंखा झल रहा है और गर्मी और मच्छरों को भगाने की कोशिश कर रहा है एवं अपने दाहिने हाथ में किताब लिए वह पढ़ने में मगन है।

बाहर, गांव के पथ पर, धारीदार साड़ी पहने एक बालिका

अपने आंचल में चन्द काले-काले जामुन लेकर उन्हें खाती जा रही थी और बार-बार उस सीखचोंवाली खिड़की के सामने से आ-जा रही थी। उसके मुख के भाव से यह साफ-साफ झलक रहा था कि भीतर तख्त पर बैठा जो आदमी किताब पढ़ रहा है, उसके साथ इस बालिका का घनिष्ठ परिचय है—और किसी तरह से उसका ध्यान इधर खींचकर वह नीरव उपेक्षा से जता देना चाहती है कि फिलहाल में काले-काले फरेंदों को खाने में लगी हुई हूं और तुम्हारी मुझे कतई परवाह नहीं है।

दुर्भाग्य से, कमरे में बैठे अध्ययनशील युवक की आंखें कुछ कमज़ोर हैं, दूर से बालिका की नीरव उपेक्षा उसको छू नहीं सकी। बालिका भी यह जानती थी इसलिए बहुत देर तक बेकार टहलने के बाद, नीरव उपेक्षा के बदले उसे जामुन की गुठलियों का इस्तेमाल करना पड़ा। अन्धे के आगे रूठने की विशुद्धता को बचाना कठिन कार्य है।

जब लगातार दो-चार गुठलियां मानो दैव द्वारा फेंकी हुई आकर लकड़ी के दरवाज़े पर खट से लगीं, तब अध्ययनरत पुरुष ने सिर उठाकर देखा। मायाविनी बालिका तुरन्त ताड़ गई और दुगुनी एकाग्रता से अपने आंचल में पड़े खाने योग्य जामुनों को चुनने में लग गई। पुरुष ने भवें सिकोड़कर विशेष प्रयास से देखा, बालिका को पहचानकर किताब रख खिड़की के पास चला आया और मुस्कराते हुए पुकारा, "गिरिबाला !"

गिरिबाला बेपरवाही से अपने आंचल में पड़े जामुनों को आंखें गड़ाकर देखती रही और मन्द गति से पग-पग आगे बढ़ने लगी।

तब क्षीण दृष्टिवाले युवक की समझ में यह बात आ गई कि अनजाने किए हुए किसी अपराध की सज़ा दी जा रही है। झटपट बाहर निकलकर वह बोला, "क्यों, आज तुमने मुझे जामुन नहीं दिए ?" गिरिबाला ने मानो यह बात सुनी ही नहीं, और बहुत खोज के बाद एक जामुन छांटकर बड़े ही निश्चिन्त ढंग से उसे खाने लगी।

ये जामुन गिरिबाला के बाग के हैं और उस युवक को रोज़ उसका हिस्सा मिलना निर्धारित है। क्या जाने क्यों आज यह बात

गिरिबाला को याद ही नहीं रही और उसके आचरण से लगा कि इन्हें वह केवल अपने लिए ही बटोर लाई है। लेकिन अपने बाग से तोड़कर दूसरे के दरवाज़े पर आकर दिखा-दिखाकर खाने का क्या मतलब है? यह साफ समझ में नहीं आया। तब उस पुरुष ने निकट आकर उसका हाथ पकड़ लिया। गिरिबाला ने पहले तो आड़ी-तिरछी होकर हाथ छुड़ाकर भाग जाने की कोशिश की, फिर अचानक वह रो पड़ी और आंचल के जामुन ज़मीन पर फेंककर भाग खड़ी हुई।

सवेरे की चंचल धूप और चंचल बादलों ने शाम को शान्त और क्लान्त भाव अपना लिया। आकाश के छोर पर शुभ्र फूले हुए बादलों का एक ढेर-सा पड़ा था और तिपहर का हारा-थका प्रकाश पेड़ के पत्तों, तालाब के पानी और प्रकृति के अंग-अंग पर चमक रहा था। फिर वह लड़की सीखचोंवाली खिड़की के बाहर चक्कर लगाती दिखाई पड़ रही थी। और कमरे के भीतर वह नवयुवक बैठा था। सुबह और अब में फर्क केवल इतना था कि उस लड़की के आंचल में जामुन नहीं थे और युवक के हाथ में किताब नहीं थी। इससे भी बढ़कर अधिक संगीन और गम्भीर भेद भी कुछ-कुछ था।

इस समय भी वह लड़की किसी खास ज़रूरत से इस खास जगह पर आकर हिचक रही थी, यह बताना मुश्किल है। और चाहे कोई भी ज़रूरी काम हो, पर कमरे के भीतर बैठे युवक से बात करने की ज़रूरत उसे हो, ऐसा उसके हाव-भाव से बिलकुल प्रकट नहीं होता था; बल्कि ऐसा लगता था मानो वह केवल यह देखने आई है कि सवेरे वह जो जामुन पटक गई थी उनमें से कोई अंकुरित हुआ या नहीं।

लेकिन अंकुवा न निकलने के दूसरे कारणों में एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि वे जामुन इस वक्त तख्त पर युवक के सामने रखे हुए थे और वह लड़की जब झुक-झुककर किसी काल्पनिक पदार्थ की खोज में लगी हुई थी तो युवक अपनी हंसी छिपाते हुए बड़ी ही गम्भीरता से एक-एक जामुन चुनकर मज़े में खा रहा था। अन्त में जब दो-एक गुठलियां दैव से उस लड़की के पैरों के पास यहां तक कि पैर के ऊपर आकर पड़ने लगीं, तब गिरिबाला समझ गई कि युवक उसके रूठने का बदला ले रहा है। लेकिन क्या उसका ऐसा करना ठीक था? अपने नन्हे-से

हृदय का सारा गर्व त्यागकर गिरिबाला आत्मसमर्पण करने का मौका ढूंढ़ रही है तब क्या उसके इस दुर्गम मार्ग पर युवक का इस तरह बाधा देना निर्दयता नहीं था ? वह पकड़ाई देने ही आई है इस बात को जब युवक ताड़ गया तब लड़की का चेहरा धीरे-धीरे रक्ताभ हो उठा और वह भागने का रास्ता देखने लगी। तभी युवक ने बाहर आकर उसका हाथ पकड़ लिया।

सवेरे की ही तरह इस समय भी लड़की ने शरीर को तोड़-मरोड़-कर हाथ छुड़ाके भागने की बहुत कोशिश की, पर रोई नहीं। बल्कि लाज से लाल हो, गर्दन टेढ़ी करके अत्याचारी की पीठ की ओर मुंह छिपाकर खूब हंसने लगी, और अन्त में मानो केवल एक बाहरी आकर्षण से खिचकर, हारी हुई बन्दिनी-सी बनी लोहे के सीखचों से घिरे कारागार में दाखिल हुई।

आकाश में धूप और बादल का खेल जैसा साधारण है, धरती पर इन दो प्राणियों का खेल भी वैसा ही साधारण और क्षणस्थायी है। फिर, आकाश में जिस प्रकार धूप और बादल का खेल न तो साधारण है और न खेल है किन्तु खिलवाड़-सा लगता है, उसी प्रकार इन दो अख्यातनामा नर-नारी के कार्यहीन एक दिन का छोटा-सा इतिहास संसार की सैकड़ों घटनाओं की तुलना में सारहीन लग सकता है, किन्तु वास्तव में वह सारहीन नहीं है। जो वृद्ध विराट अदृष्ट अविचलित गम्भीरता से युग के साथ युगान्तर को अनादिकाल से गूंथता चला आ रहा है, वही वृद्ध इस बालिका के, प्रातः-संध्या के, हंसी-रुदन में जीवनव्यापी सुख-दुःख का बीज अंकुरित कर रहा था। फिर भी इस लड़की का ऐसा अकारण रूठना कुछ अर्थहीन-सा लगा—केवल दर्शकों की दृष्टि में ही नहीं, बल्कि उस युवक की दृष्टि में भी जो इस छोटे-से नाटक का प्रधान पात्र है। यह लड़की क्यों किसी दिन नाराज़ हो जाती है और क्यों किसी दिन अथाह स्नेह प्रकट करती रहती है, क्यों किसी दिन दैनिक हिस्सा बढ़ा देती है और क्यों किसी दिन उसे एकदम बन्द कर देती है—इसका कारण ढूंढ़ निकालना कुछ आसान काम नहीं है। किसी-किसी दिन वह मानो अपनी सारी कल्पना, चिन्ता और निपुणता को एकत्र कर युवक को खुश करने में

लग जाती है और किसी-किसी दिन अपनी सारी नन्ही-सी शक्ति को, अपनी सारी कठोरता को एकत्र कर उसे चोट पहुंचाने का प्रयास करती है। और उसे वेदना न पहुंचा सकने पर उसकी कठोरता दुगुनी हो जाती है और कृतकार्य होने पर वह कठोरता पछतावे के आंसुओं में गलकर स्नेह की सैकड़ों धाराओं में बहने लगती है।

धूप-बादल के इस तुच्छ खेल का पहला तुच्छ इतिहास अगले परिच्छेद में संक्षेप में बयान करूंगा।

गांव के सब लोग गुटबन्दी, साज़िश, गन्ने की खेती, झूठे मुकदमे और पट्सन के कारोबार में लगे रहते थे, केवल गिरिबाला और शशिभूषण ही भावों का आदान-प्रदान और साहित्य की आलोचना करते थे।

किन्तु इसमें किसीके दिलचस्पी लेने या चिन्ता करने का कोई विषय नहीं है ; क्योंकि गिरिबाला की उम्र है दस साल की और शशिभूषण अभी-अभी एम० ए०, बी० एल० पास कर चुके हैं। दोनों पड़ोसी-मात्र हैं—बस।

गिरिबाला के पिता हरकुमार किसी समय अपने गांव के पट्टेदार थे। अब हालत बिगड़ने पर सब बेच-बाचकर अपने परदेसी ज़मींदार के पास नायब का काम करते हैं। जिस परगने में वे रहते हैं उसी परगने के वे नायब हैं, इसलिए जन्म-स्थान से बाहर उन्हें जाना नहीं पड़ता।

शशिभूषण एम० ए० पास करने के बाद कानून की परीक्षा भी पास कर चुका है, लेकिन अभी तक वह किसी काम में लगा नहीं है। लोगों से मिलना-जुलना या कहीं किसी सभा-समिति में जाकर कुछ बोलना-बालना—इतना भी उससे नहीं होता। आंखों से कमज़ोर होने के कारण जान-पहचान के लोगों को भी वह पहचान नहीं पाता, और क्योंकि उसे भवें सिकोड़कर देखना पड़ता है, इसलिए लोग उसे अक्खड़ ही समझते हैं।

कलकत्ता के जन-समुद्र में अपने मन के अनुसार अकेला रहना

शोभा दे सकता है, किन्तु गांव में यह विशेष रूप से स्पर्धा ही र
मालूम होती है। शशिभूषण के पिता हर तरह की कोशिश करने
बाद जब हार मान गए तब उन्होंने अपने इस अकर्मण्य पुत्र को गां
में ही अपनी मामूली सम्पत्ति की देख-भाल के काम में लगा दिया
किन्तु इस कारण शशिभूषण को गांववालों से तरह-तरह के अत्या
चार, हंसी और अपमान सहने पड़ते थे। अपमान सहने का एक औ
कारण था। वह यह कि शशिभूषण ब्याह करने के लिए राज़ी न
हुआ और कन्यादान की चिन्ता से ग्रस्त माता-पिता ने उसकी इस
अनिच्छा को असह अहंकार समझा और वे उसे किसी प्रकार से भी
क्षमा नहीं कर सकते थे।

शशिभूषण पर जितना ही उपद्रव बढ़ने लगा उतना ही वह अप
घर के विवर में गायब होने लगा। घर के एक कोनेवाले कमरे में
तख्त पर कुछ जिल्ददार अंग्रेज़ी किताबें लिए वह बैठा रहता और
जब जो किताब पढ़ने का जी करता उसीको पढ़ने लगता। बस, यही
उसका काम था। सम्पत्ति की देख-भाल कैसे होती होगी, सो सम्पत्ति
ही जाने।

और पहले ही इस बात का आभास दिया जा चुका है कि गांव में
यदि किसीसे भी उसका सम्बन्ध था तो केवल एक गिरिबाला से।

गिरिबाला के भाई स्कूल जाते और लौटकर अपनी मूढ़ बहिन से
किसी दिन तो पूछते 'पृथ्वी का आकार कैसा है?' और किसी दिन
पूछते 'सूरज बड़ा है या पृथ्वी?' जब वह गलत जवाब देती तो
उसकी काफी अवहेलना करते हुए उसकी गलती सुधार देते। 'सूरज
पृथ्वी से बड़ा है,' यह बात प्रमाण के अभाव में गिरिबाला को
असिद्ध-सी लगती और यदि वह अपने सन्देह को हिम्मत बांधकर
प्रकट कर देती, तो उसके भाई उसका दुगुना अनादर करते और कहते,
"अरे हट! हमारी किताब में लिखा है और तू चली है यह कहने..."

छपी हुई किताब में लिखा है, यह बात सुनकर गिरिबाला एक-
दम चुप रह जाती और किसी अन्य प्रमाण की फिर उसे कोई
आवश्यकता नहीं मालूम होती।

किन्तु उसके मन ही मन में बार-बार यह इच्छा होती कि वह

अपने भाइयों की तरह पुस्तकें पढ़े। किसी-किसी दिन वह अपने
. में बैठकर कोई किताब खोल लेती और बड़बड़ातीहुई पढ़ने की
ल किया करती, और एक के बाद एक पन्ना उलटती रहती। छापे
, काले-काले, छोटे-छोटे अपरिचित अक्षर मानो किसी एक बड़ी
हस्यशाला के सिंहद्वार के सामने कतार में खड़े होकर 'इ' कार
ई' कार की पाई उठाए पहरा ही दिया करते, गिरिबाला के किसी
श्न का वे कोई उत्तर नहीं देते। 'कथामाला' पुस्तक अपने शेर,
ियार, घोड़े, गधे इनमें से किसी एक की बात भी इस लड़की को
ीं बताती और 'आख्यान-मंजरी' अपने सारे आख्यानों को लिए मौन-
धरे उसके मुंह की ओर चुपचाप देखती रहती है।

गिरिबाला ने अपने भाइयों से पढ़ना सीखने का प्रस्ताव किया
; किन्तु भाइयों ने उसकी बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।
केला शशिभूषण ही उसका सहायक था।

जिस प्रकार 'कथामाला', 'आख्यान-मंजरी' गिरिबाला के लिए
ुर्भेद्य और रहस्यपूर्ण थे, शुरू-शुरू में शशिभूषण भी उसके लिए कुछ-
कुछ वैसा ही था। रास्ते के किनारे, लोहे के सीखचों से घिरे छोटे
कमरे में, ढेर की ढेर पुस्तकों के बीच तख्त पर जब वह अकेला बैठा
रहता था, तब सीखचों को पकड़े बाहर खड़ी गिरिबाला विस्मित
होकर इस कुबड़े-से बैठकर पढ़ते हुए अद्भुत व्यक्ति को देखती थी।
पुस्तकों की संख्या की तुलना कर वह मन ही मन तय कर लेती कि
उसके भाइयों की अपेक्षा शशिभूषण बहुत ज़्यादा विद्वान है। इससे
अधिक आश्चर्य की बात उसके लिए कुछ भी नहीं थी। 'कथामाला'
ादि संसार की मुख्य-मुख्य पाठ्य पुस्तकें शशिभूषण न जाने कब पढ़-
के खत्म कर चुका होगा, इस विषय में उसे तनिक भी सन्देह नहीं था।
इसलिए, जब शशिभूषण पुस्तक के पन्ने उलटता रहता, तब वह निश्चल
खड़ी-खड़ी उसके ज्ञान की सीमा का अन्दाज़ा नहीं लगा पाती थी।

अन्त में एक दिन इस विस्मय-विभोर बालिका ने क्षीणदृष्टि
शशिभूषण का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर ही लिया। शशिभूषण
ने एक दिन एक चटकीली जिल्दवाली किताब खोलकर गिरिबाला
से कहा, "आ गिरिबाला, तुझे तसवीर दिखाऊं।" गिरिबाला फौरन

दौड़कर भाग गई।

लेकिन अगले ही दिन फिर वह धारीदार साड़ी पहने खिड़की के बाहर आकर खड़ी हो गई और गम्भीर मौन आग्रह के साथ शशिभूषण का अध्ययन देखने लगी। शशिभूषण ने उस दिन भी उसे बुलाया और उस दिन भी वह अपनी चोटी हिलाती हुई भाग गई।

इस प्रकार उनके परिचय का आरम्भ हुआ, लेकिन कब वह धीरे-धीरे घनिष्ठतर हो उठा और कब वह लड़की सीखचों के बाहर से कमरे के भीतर आ पहुंची, और शशिभूषण के तख्त पर बिखरी हुई ढेर की ढेर पुस्तकों के बीच में अपने लिए उसने जगह बना ली, उसकी निश्चित तारीख बताने के लिए ऐतिहासिक गवेषणा की आवश्यकता होगी।

शशिभूषण से गिरिबाला ने पढ़ना-लिखना प्रारम्भ कर दिया। और सभी लोग सुनकर हंसेंगे कि यह मास्टर अपनी इस छोटी-सी छात्रा को केवल अक्षर, हिज्जे और व्याकरण ही सिखाता हो ऐसी बात नहीं थी। वह बड़े-बड़े काव्यों का तर्जुमा कर उसे सुनाया करता और उसका अभिमत भी पूछा करता था। लड़की कितना और क्या समझती है, वह तो अन्तर्यामी ही जानते होंगे, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि गिरिबाला को यह अच्छा लगता था। वह कुछ अंश समझ पाती तो कुछ नहीं भी समझती थी और इन दोनों को मिलाकर वह अपने बाल-हृदय में कल्पना के विचित्र चित्र अंकित करती रहती थी। नीरव बैठी आंखें फाड़-फाड़कर सब बातें ध्यान से सुना करती और बीच-बीच में एक असंयत प्रश्न कर बैठती थी। कभी-कभी अचानक ही किसी ऊटपटांग प्रसंग पर पहुंच जाती। शशिभूषण इसमें कभी बाधा नहीं देता, बल्कि बड़े-बड़े काव्यों के बारे में इस अति क्षुद्र समालोचक की निन्दा-प्रशंसा तथा टीका-भाष्य सुनकर विशेष आनन्द प्राप्त करता रहता। गांव-भर में यह गिरिबाला ही उसकी एकमात्र समझदार मित्र थी।

गिरिबाला के साथ शशिभूषण का पहले-पहले जब परिचय हुआ था तब गिरिबाला की उम्र थी आठ साल की और अब वह दस साल की हो गई है। इन दो वर्षों में उसने बंगला और अंग्रेज़ी की वर्णमाला

सीखकर दो-चार सरल पुस्तकें भी पढ़ डाली हैं। और शशिभूषण को भी ये दो वर्ष देहात-गांव में बिलकुल संगी-शून्य और नीरस नहीं लगे।

३

लेकिन गिरिबाला के पिता हरकुमार के साथ शशिभूषण की बनती नहीं थी। हरकुमार शुरू-शुरू में इस एम० ए०, बी० एल० के पास मुकदमों के बारे में सलाह लेने आते थे। लेकिन शशिभूषण ने उनकी बात पर कभी कुछ ध्यान ही न दिया, यहां तक कि नायब के सामने कानून के बारे में अपनी अज्ञता स्वीकार करने में उसे कभी संकोच नहीं हुआ। पर नायब इसे निरा कपट ही समझते रहे। इस तरह दो वर्ष बीत गए।

हाल में एक अक्खड़ प्रजा को दुरुस्त करना ज़रूरी हो गया। नायब साहब उसके नाम विभिन्न ज़िलों से विभिन्न अपराध और दावे के मुकदमे दायर करने का अभिप्राय प्रकट कर शशिभूषण से सलाह लेने के लिए विशेष आग्रह करने लगे। शशिभूषण ने, सलाह देना तो दर-किनार, शान्त एवं दृढ़ स्वर में हरकुमार को दो-चार ऐसी बातें सुना दीं कि उन्हें वे तनिक भी मीठी नहीं लगीं।

और इधर उस प्रजा से एक भी मुकदमे में हरकुमार जीत न सके, जिससे उनके मन में यह बात पक्की बैठ गई कि शशिभूषण ने बेशक उस पाजी प्रजा की सहायता की है। उन्होंने मन ही मन यह प्रतिज्ञा कर ली कि ऐसे आदमी को बिना किसी देर के गांव से निकाल बाहर करना चाहिए।

शशिभूषण ने देखा कि कभी उसके खेत में बैल घुस आते हैं तो कभी खलिहान में आग लग जाती है, कभी उनके खेत की हद को लेकर झगड़ा उठ खड़ा होता है तो कभी रिआया सीधे-सीधे लगान नहीं देती बल्कि उलटे उसीके नाम झूठा मुकदमा दायर करने की धमकी देती है। यहां तक कि यह अफवाह सुनने में आई कि शाम के बाद रास्ते पर निकलने पर वह पीटा जाएगा और रात को उसके घर में आग लगा दी जाएगी।

अन्त में शान्तिप्रिय, निरीह स्वभाव का शशिभूषण गांव छोड़कर कलकत्ता जाने का इन्तज़ाम करने लगा।

उस दिन शशिभूषण रवाना होने की तैयारी कर रहा था कि ऐसे समय पता चला कि गांव में ज्वाइंट मजिस्ट्रेट साहब का डेरा पड़ा है। सिपाही, बरकंदाज़, खानसामा, कुत्ता, घोड़ा, साईस, मेहतरों आदि से गांव चंचल हो उठा। जिस तरह बाघ के पीछे-पीछे सियार चलते हैं, गांव के लड़कों का झुंड साहब के डेरे के पास शंकित कुतूहल से चक्कर काटने लगा।

नायब साहब कायदे के मुताबिक खातिरदारी-खाते में खर्च लिख-लिखकर साहब की खिदमत में मुर्गी-अंडे, दूध-घी पहुंचाने लगे। ज्वाइंट साहब के लिए जितनी रसद की ज़रूरत थी उससे कहीं ज़्यादा नायब साहब खुशी-खुशी भेजने लगे। लेकिन तिसपर भी जब साहब के मेहतर ने आकर साहब के कुत्ते के लिए एकदम चार सेर घी की मांग की तब दुष्ट ग्रहों का ऐसा फेर कि नायब साहब को यह हुक्म बरदाश्त के बाहर हो गया। उन्होंने मेहतर को उपदेश दिया कि हालांकि साहब का कुत्ता देसी कुत्ते से अधिक घी बिना किसी कष्ट के हज़म कर सकता है, फिर भी इतना ज़्यादा चिकना पदार्थ उसके स्वास्थ्य के लिए कल्याणकारी नहीं होगा। उन्होंने उसे घी नहीं दिया।

मेहतर ने जाकर साहब से शिकायत कर दी कि कुत्ते के लिए गोश्त कहां मिलेगा यह पता लगाने के लिए वह नायब के पास गया था, किन्तु जाति से भंगी होने के कारण नायब ने उसे बेइज़्ज़ती के साथ सबके सामने निकालकर बाहर कर दिया, यहां तक कि साहब के प्रति भी उपेक्षा दिखाने में कोई संकोच नहीं किया।

एक तो योंही ब्राह्मणों का जात्यभिमान साहब लोगों के लिए असह्य होता है, तिसपर उनके मेहतर की बेइज़्ज़ती करने का साहस दिखाया गया था, इससे वे अचानक अपना धैर्य खो बैठे। फौरन चपरासी को हुक्म दिया, "बुलाओ नायब को।"

कम्पित-देह नायब दुर्गा माई का नाम जपते हुए साहब के तम्बू के सामने आकर खड़े हो गए। साहब बूट चरमराते हुए तम्बू से निकले और बड़े ज़ोर से विदेशी उच्चारण से बोले, "टुम किसलिए हमारा

मैटर को बगा दिया ?"

हरकुमार ने घबराहट में हाथ जोड़कर बताया कि साहब के मेहतर के साथ बुरा बर्ताव करने की हिम्मत भला वे कैसे कर सकते थे ? कुत्ते के लिए चार सेर घी का हुक्म सुनकर उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा था कि इतना घी कुत्ते के लिए हानिकर हो सकता है और बाद में घी लाने के लिए उन्होंने जगह-जगह आदमी भेज दिया था।

इसपर साहब ने पूछा कि किसे भेजा गया है और किसके पास भेजा गया है ?

हरकुमार ने फौरन जो नाम मुंह में आए कह दिए। उन-उन नामों के लोग उन-उन गांवों में घी लाने के लिए गए हैं या नहीं यह पता लगाने के लिए आदमी भेजकर साहब ने नायब को तम्बू में बिठा रखा।

दूतों ने तिपहर को लौटकर साहब को खबर दी कि घी लाने के लिए कहीं भी किसीको नहीं भेजा गया है। साहब के मन में अब कोई सन्देह नहीं रह गया कि नायब की सारी बातें झूठी हैं और मेहतर ने जो कुछ भी कहा है बिलकुल ठीक कहा है। तब मजिस्ट्रेट साहब ने क्रोध से गरजते हुए मेहतर को बुलाकर कहा कि इस साले का कान पकड़कर तम्बू के चारों ओर घुड़दौड़ कराओ। मेहतर ने ज़रा भी देर न कर फौरन सबके सामने साहब के हुक्म की तामील की।*

देखते ही देखते यह बात चारों ओर फैल गई और हरकुमार घर लौटकर अन्न-जल त्यागकर मुमूर्षु की तरह पड़ रहे।

ज़मींदारी के काम के सिलसिले में नायब के बहुत-से दुश्मन थे और वे इस घटना से बहुत खुश हुए। लेकिन कलकत्ता जाने को तैयार शशिभूषण ने जब यह बात सुनी तो उसके सारे बदन का खून खौल उठा। रात-भर उसे नींद नहीं आई।

अगले दिन सबेरे वह हरकुमार के घर पहुंचा और हरकुमार

---

*खुलना के मजिस्ट्रेट द्वारा मुहर्रिर को पीटे जाने से बहुत पहले यह कहानी लिखी गई है। बेल साहब की सहृदय दानशीलता के बारे में हम लोगों में बहुत-से लोग जानते हैं। उन सरीखे उदारहृदय व्यक्ति के खिलाफ कटाक्ष करना मेरा उद्देश्य नहीं है। —लेखक

उसका हाथ पकड़कर व्याकुल होकर रोने लगे। शशिभूषण ने कहा, "साहब के खिलाफ मानहानि का मुकदमा दायर करना होगा। मैं आपका वकील बनकर आपकी ओर से लड़ूंगा।"

स्वयं मजिस्ट्रेट के नाम मुकदमा दायर करने की बात सुन हरकुमार पहले-पहल सहम गए। किन्तु शशिभूषण भी उनके पीछे पड़ गया।

हरकुमार ने सोचने-विचारने के लिए समय लिया। लेकिन बाद में जब उन्होंने देखा कि यह बात चारों ओर फैल गई है और दुश्मन लोग खुशियां मना रहे हैं तो उनसे रहा न गया। वे शशिभूषण के घर गए और उससे बोले, "भाई, मैंने सुना है कि तुम बिना वजह कलकत्ता जाने की तैयारी कर रहे हो। ऐसा हरगिज़ नहीं हो सकता। तुम जैसा एक आदमी गांव में रहे तो हमारी हिम्मत कितनी बढ़ती है! बहरहाल, अब तो इस घोर अपमान से उबारने में तुमको मेरी मदद करनी ही होगी।"

जो शशिभूषण सदा से लोगों की नज़रों से बचाकर अपने को के एक कोने में छिपाए रखता था वही आज अदालत में जा हुआ। मजिस्ट्रेट ने उसकी नालिश सुनकर उसे अपने प्राइवेट चेम्बर में बुलाया और काफी खातिरदारी करते हुए कहा, "शशि बाबू, इस मामले का चुपचाप आपस में फैसला कर लेना क्या बेहतर न होगा?"

शशि बाबू ने मेज़ पर पड़ी हुई एक कानूनी किताब की जिल्द पर अपनी सिकोड़ी हुई भवें और क्षीण दृष्टि डालते हुए कहा, "मैं अपने मुवक्किल को ऐसी सलाह नहीं दे सकता। वे अपने गांव में सबके सामने अपमानित हुए हैं। आपस में गुपचुप इसका फैसला कैसे हो सकता है?"

साहब दो-चार बातें कहने-सुनने के बाद समझ गए कि इस स्वल्प-भाषी क्षीण दृष्टि के व्यक्ति को आसानी से विचलित करना सम्भव नहीं है। वे बोले, "आल राइट बाबू, देखा जाए कहां तक क्या होता है।"

इसके बाद मजिस्ट्रेट ने मामले की लम्बी तारीख डाल दी और

मुफस्सल का दौरा करने निकल पड़े।

इधर ज्वाइंट साहब ने ज़मींदार को खत लिख भेजा कि तुम्हारे नायब ने हमारे नौकरों की बेइज़्ज़ती कर मेरे प्रति अवहेलना प्रकट की है। आशा है तुम इसपर उचित कार्रवाई करोगे।

ज़मींदार ने घबराकर तुरन्त हरकुमार को बुलवा भेजा। नायब ने से आखिर तक सारी घटना उन्हें सुना दी। सुनकर ज़मींदार बेहद नाराज़ हो गए और बोले, "साहब के मेहतर ने चार सेर घी मांगा था तो तुमने बगैर कुछ कहे-सुने उसी वक्त घी उसे क्यों नहीं दिया? उसमें तुम्हारे बाप का कौन-सा पैसा लगता था?"

हरकुमार अस्वीकार न कर सके कि इसमें उनकी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भी नुकसान न होता। अपराध मानते हुए वे बोले, "मेरी ग्रहदशा ही खराब थी वरना मेरी अकल क्यों ऐसी मारी जाती।"

ज़मींदार ने कहा, "इतना अपराध तो तुमने किया ही, तिसपर साहब के नाम नालिश करने के लिए तुमसे किसने कहा?"

हरकुमार ने कहा, "धर्मावतार, मुझे नालिश करने की कतई न थी। हमारे गांव में वह जो शशिभूषण रहता है, उसे कोई नहीं मिलता, सो उस छोकरे ने ज़बरदस्ती बिना मेरी सम्मति के मुझे इस झंझट में फंसा दिया।"

सुनकर ज़मींदार शशिभूषण पर बेहद नाराज़ हो गए। समझ गए कि ज़रूर वह नालायक नया वकील है और किसी बहाने इस तरह का बखेड़ा खड़ा कर आम जनता में अपना नाम कमाना चाहता है। उन्होंने नायब को हुक्म दिया कि फौरन मुकदमा उठा लिया जाए और छोटे-बड़े दोनों मजिस्ट्रेटों को ठंडा किया जाए।

नायब तरह-तरह के फल-मूल और शीतल भोग्य वस्तुओं की डाली लिए ज्वाइंट मजिस्ट्रेट साहब के घर पहुंचे। उन्होंने साहब से निवेदन किया, "साहब के नाम मामला दायर करने की मेरी कतई मंशा नहीं थी। गांव में शशिभूषण नाम का एक बेवकूफ नामाकूल छोकरा नया-नया वकील बनकर आया है, उसीने बिना बताए ऐसी अनहोनी कर डाली है।" साहब शशिभूषण पर बेहद नाराज़ हुए और नायब पर बड़े खुश हुए, बोले कि वे हरकुमार को गुस्से में आकर 'डंड' दिया,

और अब वे बहुत 'दुखित' हैं। साहब ने बंगला भाषा की परीक्षा पास करके हाल में पुरस्कार पाया है और तभी से वे साधारण लोगों से शुद्ध भाषा में वार्तालाप किया करते हैं।

नायब ने कहा, "हुजूर, मां-बाप कभी नाराज़ होकर सज़ा भी देते हैं तो कभी खुश होकर दुलारते भी हैं, गोद में भी उठा लेते हैं—इस-में सन्तान या मां-बाप के दुखित होने का कोई कारण नहीं।"

इसके बाद ज्वाइंट साहब के सभी नौकरों को यथायोग्य पुरस्कार देकर हरकुमार दौरे पर गए हुए मजिस्ट्रेट साहब से मिलने गए। मजिस्ट्रेट ने उनके मुंह से शशिभूषण की स्पर्धा की बात सुनकर कहा, "मुझे भी बड़ा ताज्जुब हो रहा था कि नायब बाबू को मैं हमेशा से भले आदमी के रूप में जानता था। वे भला मुझसे बिना बताए, चुपचाप फैसला किए बिना कैसे मुकदमा करने चल दिए? यह तो नामुमकिन है। अब सब बातें समझ में आ रही हैं।"

अन्त में वे नायब से पूछ बैठे, "क्यों, शशि क्या कांग्रेस का आदमी है?" बेझिझक नायब ने कह दिया, "जी हां।"

साहब अपनी साहबी बुद्धि से फौरन समझ गए कि यह सब कांग्रेस की एक चाल है। कोई एक बखेड़ा खड़ा कर अमृतबाज़ार-पत्रिका में लिख-लिखाकर सरकार के खिलाफ प्रचार करने के लिए, कांग्रेस ने अपने छोटे-छोटे चेलों को चारों ओर भेज रखा है, जो छिप-लुककर ऐसी ही बातों की तलाश में रहते हैं। इन सब छोटे-छोटे कांटों को एक-साथ उखाड़ फेंकने का पूरा अधिकार मजिस्ट्रेट के हाथों में नहीं दिया गया है, इसके लिए भारत सरकार को कमज़ोर समझकर उन्होंने मन ही मन धिक्कारा। लेकिन कांग्रेसी शशिभूषण का नाम उन्हें याद रहा।

५

संसार के बड़े-बड़े मामले जब प्रबल रूप से उत्पन्न होने लगते हैं, तब छोटी-छोटी बातें भी अपनी भूखी जड़ों को लेकर विश्व पर अपनी मांगों को फैलाने से बाज़ नहीं आतीं।

जिस समय शशिभूषण इस मजिस्ट्रेट के झगड़े को लेकर विशेष

रूप से व्यस्त था, यानी जब वह विस्तृत पोथी-पत्रा खोलकर कानूनी दाव-पेच निकाल रहा था, मन ही मन अपनी तकरीर को दुहराकर पैना बना रहा था, कल्पनालोक में गवाहों से जिरह कर रहा था और खुली कचहरी में लोगों की भीड़ और युद्धपर्व के भावी अध्यायों की कल्पना कर वह बार-बार कम्पित और पसीने से तरबतर हो रहा था, उस समय उसकी छोटी-सी छात्रा कभी तो अपनी फटी हुई 'चारु-पाठ' पुस्तक और स्याही से पुती हुई कापी लिए, कभी बाग से फल, मां के भंडार से चुराया हुआ अचार लिए, किसी दिन नारियल की मिठाई तो कभी पत्ते में लपेटा हुआ घर में बना केवड़े की सुगन्धि से सुगंधित कत्था लिए नियमित समय पर उसके दरवाज़े पर हाज़िर हो जाया करती थी।

पहले-पहले चन्द रोज़ उसने देखा कि शशिभूषण बिना तसवीर की एक बड़ी भारी नीरस किताब खोले अनमना-सा होकर उसके पन्ने उलटता जा रहा है। ऐसा भी नहीं मालूम होता था कि उसे वह बड़े ध्यान से पढ़ रहा हो। इससे पहले शशिभूषण जो भी किताब पढ़ा करता था उसीमें से कुछ न कुछ पढ़कर गिरिबाला को समझाने की कोशिश करता था, लेकिन गिरिबाला आश्चर्य में पड़ गई कि अब क्या हो गया है। उस मोटी-सी किताब में क्या कहीं पर भी गिरिबाला को सुनाने लायक एक भी बात नहीं लिखी हुई थी ? न हो, लेकिन किताब क्या इतनी बड़ी चीज़ हो गई कि गिरिबाला की ओर थोड़ा-सा ध्यान भी न दिया जाए ?

शुरू में गुरु का ध्यान आकर्षित करने के लिए गिरिबाला गाने के स्वर में ज़ोर-ज़ोर से प्रत्येक अक्षर का उच्चारण करती हुई पाठ पढ़ने लगी और ऊंचे स्वर से चोटीसहित अपने शरीर का ऊपरी हिस्सा हिला-हिलाकर पढ़ने लगी। लेकिन उसने जब देखा कि इससे कोई खास असर न पड़ा, तब वह उस काली जिल्दवाली किताब पर मन ही मन बेहद खफा हो गई। उस किताब को वह एक कुत्सित, कठोर, निर्दय आदमी के रूप में देखने लगी। जो किताब गिरिबाला को बालिका समझकर उसकी इस तरह अवज्ञा करती है वह मानो अपने प्रत्येक दुर्बोध्य पन्ने में से दुष्ट व्यक्ति का चेहरा लिए अपने को

नीरव ढंग से प्रकट कर रही थी। अगर यह किताब कोई चोर चुरा ले जाए तो गिरिबाला उस चोर को अपनी मां के भंडार से सारा का सारा केवड़ा-सुवासित कत्था चुराकर पुरस्कार दे सकती थी। उस पुस्तक के विनाश के लिए वह मन ही मन देवताओं से ऐसी-ऐसी अनुचित और असम्भव प्रार्थनाएं करने लगी कि देवताओं ने भी सुनना पसन्द नहीं किया और इसलिए पाठकों को सुनाने की ज़रूरत भी मैं नहीं समझता हूं।

तब व्यथितहृदय बालिका ने दो-चार दिन किताब लेकर गुरु के घर जाना बन्द रखा। और उन दो-एक दिनों के बाद इस विच्छेद का परिणाम देखने के लिए, वह किसी दूसरे बहाने से शशिभूषण के घर के सामने आई और कनखियों से देखा कि शशिभूषण वह काली किताब छोड़कर अकेला खड़ा खिड़की के सीखचों के प्रति विदेशी भाषा में व्याख्यान का प्रयोग कर रहा है। शायद न्यायाधीश का मन किस तरह प्रभावित करेगा इसीकी परीक्षा वह इन सीखचों पर कर रहा था। संसार से अनभिज्ञ ग्रन्थविहारी शशिभूषण की धारणा यह थी कि प्राचीन काल में डिमास्थेनीज़, सिसेरो, बर्क, शेरिडन आदि वक्ता जो असामान्य कार्य कर गए हैं और उन लोगों ने जैसे शब्दभेदी बाण चला-चलाकर अन्याय को छिन्न-भिन्न, व अत्याचार को लांछित कर अहंकार को धूल में मिला दिया था, आज के व्यवसायी दिनों में भी वैसा किया जा सकता है। प्रभुता-मद से गर्वान्ध उद्धत अंग्रेज़ों को कैसे वह संसार के सामने लज्जित और अनुतप्त करेगा, तिलकुची गांव के टूटे-फूटे छोटे-से घर में खड़ा-खड़ा वह उसीका अभ्यास कर रहा था। आकाश के देवता यह देखकर हंस रहे थे या उनकी आंखों में आंसू भर आए थे, यह कौन बता सकता है?

उस दिन गिरिबाला उसे नजर न आई। उस दिन उस बालिका के आंचल में जामुन नहीं थे। शशिभूषण ने उसे एक बार जामुन की गुठली फेंकते हुए देख लिया था तब से इस फल के सम्बन्ध में वह बहुत संकुचित रहने लगी थी। यहां तक कि शशिभूषण अगर किसी दिन मासूम ढंग से भी पूछ लेता, "गिरी, आज जामुन नहीं लाई?" तो उसे वह मज़ाक समझकर क्षोभ से 'जाओ' कहकर लाज से भागने का

रास्ता ढूंढने लगती। जामुन की गुठली के अभाव में उसे आज एक नई तरकीब निकालनी पड़ी। अचानक दूर की ओर देखती हुई ज़ोर से बोल पड़ी, "सोना बहिन, जाना मत, ज़रा ठहर, मैं अभी आई।"

पुरुष पाठक सोचेंगे कि स्वर्णलता नामक किसी दूरवर्तिनी सहेली से यह बात कही गई है, लेकिन पाठिकाएं अनायास ही समझ जाएंगी कि दूर कहीं कोई नहीं था, लक्ष्य बहुत निकट ही था। लेकिन आज इस अन्धे व्यक्ति के प्रति उसका लक्ष्य भ्रष्ट हो गया। शशिभूषण ने न सुना हो ऐसी बात नहीं, पर वह इसका भावार्थ नहीं समझ सका। उसने सोचा कि यह लड़की सचमुच अपनी सहेली से खेलने को उत्सुक है। उस दिन उसे खेलने से हटाकर पढ़ने में लगाने की उसमें ज़रा भी दिलचस्पी न थी। क्योंकि, वह भी उस दिन किसी एक लक्ष्य की तरफ निशाना लगाकर तीक्ष्ण बाण छोड़ रहा था। बालिका के नन्हे हाथों का सामान्य लक्ष्य जैसे बेकार गया, उसके शिक्षित हाथों का महान लक्ष्य भी उसी तरह बेकार गया—पाठकों को इस बात का पता पहले से ही लग चुका है।

जामुन की गुठलियों में एक गुण यह है कि एक-एक कर बहुत-सी फेंकी जा सकती हैं। चार गुठलियों के बेकार जाने पर भी पांचवीं तो ठीक जगह पर जाकर लग ही सकती है। किन्तु सोना चाहे कितना ही काल्पनिक क्यों न हो उसे 'अभी आई' की आशा देकर ज्यादा देर तक खड़ा नहीं रखा जा सकता था। खड़े रहने से सोना के अस्तित्व के बारे में लोगों को स्वाभाविक रूप से सन्देह हो सकता था। इसलिए जब यह चाल बेकार गई तो गिरिबाला को फौरन वहां से चला जाना पड़ा। फिर भी स्वर्णबाला नामक किसी दूर-स्थित सहेली के संग-लाभ की अभिलाषा यदि आन्तरिक होती तो जितनी फुर्ती से और उत्साह के साथ उसके पग बढ़ने चाहिए थे, गिरिबाला की चाल में वैसी कोई तेज़ी नहीं दिखाई पड़ी। मानो वह अपनी पीठ से देखने की कोशिश कर रही थी कि पीछे से कोई आ रहा है या नहीं। और जब वह निश्चित रूप से समझ गई कि पीछे से कोई नहीं आ रहा है तब उसने आशा के अन्तिम क्षीणतम भग्नांश को लेकर पीछे मुड़कर देखा। और जब किसीको भी आते न देखा तो उसने अपनी क्षुद्र

आशा और शिथिलपत्र 'चारुपाठ' पुस्तक के टुकड़े-टुकड़े कर रास्ते में बिखेर दिए। शशिभूषण ने उसे जितनी विद्या दी थी, उसे यदि वह किसी तरह लौटा सकती तो शायद जामुन की बेकार गुठलियों की तरह उसे वह ज़रूर उसके दरवाज़े पर ज़ोर से पटककर चली आती। बालिका ने सौगन्ध खा ली कि शशिभूषण से भेंट होने के पहले ही वह सब पढ़ना-लिखना भूल जाएगी—वे जो भी सवाल करेंगे किसीका भी वह जवाब नहीं देगी। एक...एक...एक का भी नहीं। और तभी शशिभूषण का मिज़ाज दुरुस्त हो जाएगा।

गिरिबाला की दोनों आंखों में आंसू भर आए, और पढ़ना-लिखना भूल जाने से शशिभूषण को कितना पश्चात्ताप होगा यही सोचकर उसके दुखित हृदय को थोड़ी-बहुत तसल्ली मिली। केवल शशिभूषण के दोष से पढ़ना-लिखना भूली हुई भविष्य की उस अभागिन गिरिबाला की कल्पना कर उसे अपने ही प्रति करुणा आने लगी। आकाश में बादल घिर आने लगे। बरसात में अक्सर ऐसे बादल घिर आते हैं। गिरिबाला रास्ते के किनारे एक पेड़ की आड़ में खड़ी होकर रूठती हुई सिसक-सिसककर रोने लगी। ऐसा अकारण रोना प्रतिदिन न जाने कितनी बालिकाएं रोया करती हैं। उसमें ऐसी कोई खास बात नहीं, जिसपर ध्यान दिया जाए।

६

शशिभूषण की कानून-सम्बन्धी गवेषणा और भाषण देने का अभ्यास किन कारणों से व्यर्थ हो गए, यह पाठकों को मालूम है। मजिस्ट्रेट के नाम का मुकदमा अचानक निबट गया। हरकुमार अपने ज़िले के बैंच के आनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हो गए। एक मैली-सी अचकन और पगड़ी पहनकर आजकल वे अक्सर साहब लोगों को नियमित रूप से सलाम करने जाया करते हैं।

शशिभूषण की उस काली जिल्दवाली मोटी किताब पर इतने दिनों के बाद गिरिबाला का अभिशाप फलने लगा है। बेचारी कमरे के किसी अंधेरे कोने में निर्वासित होकर धूल में मिली जा रही है। किन्तु उसका अनादर देखकर जो बालिका खुश होगी वह गिरिबाला कहां है?

शशिभूषण पहले जिस दिन अपनी कानून की किताब बन्द करके बैठा उसे अचानक यह ख्याल हुआ कि गिरिबाला नहीं आई। तब एक-एक कर कुछ दिनों का इतिहास धीरे-धीरे उसे याद आने लगा। याद आया कि एक दिन उज्ज्वल प्रभात में गिरिबाला अपने आंचल में भर-कर नववर्षा से भीगे हुए मौलश्री के फूल लाई थी।

और जब उसे देखकर भी उसने किताब से नज़र नहीं उठाई तब बालिका के उल्लास में सहसा रुकावट आ गई। उसने अपने आंचल में बिंधा हुआ सुई-डोरा निकाला और सिर झुकाकर एक-एक फूल लेकर माला गूंथने लगी। माला उसने बहुत धीरे-धीरे गूंथी—और उसमें बहुत देर लगी। दिन चढ़ आया, गिरिबाला का घर जाने का समय हो गया, फिर भी शशिभूषण का पढ़ना खत्म नहीं हुआ। गिरिबाला माला को तख्त पर रख और उदास होकर चली गई। यह भी याद आया कि उसका रूठना दिन-ब-दिन कैसा गहरा होता जा रहा था। कब से वह उसके कमरे में न घुसकर सामने के रास्ते पर ही बीच-बीच में दिखाई पड़ जाती थी और चली जाती थी। अन्त में, कब से उस बालिका ने इस रास्ते पर आना भी बन्द कर दिया था—उसे भी तो आज कितने दिन हो गए। गिरिबाला का रूठना कहीं इतने दिन तक तो नहीं टिकता। शशिभूषण ने एक लम्बी सांस ली और उसके बाद हतबुद्धि और बेकार-सा होकर दीवार से पीठ टिकाए बैठा रहा। छोटी-सी छात्रा के न आने से उसे अपने पाठ्य-ग्रन्थ भी बहुत नीरस लगने लगे। वह कोई पुस्तक उठाता तो उसके दो-चार पन्ने उलटने के बाद उसे रख देता, लिखने बैठता तो लिखते-लिखते प्रतिक्षण चौंक-चौंककर रास्ते की ओर दरवाज़े की ओर प्रतीक्षा-भरी निगाह से देखता और लिखना छोड़ देता।

शशिभूषण को शंका हुई कि कहीं गिरिबाला बीमार तो नहीं हो गई। पता लगाया तो मालूम हुआ कि उसकी शंका झूठी है। गिरिबाला आजकल घर से बाहर नहीं निकलती। उसके लिए वर ठीक हो गया है और जल्द ही उसका विवाह होगा।

जिस दिन गिरिबाला ने अपनी पुस्तक फाड़कर उसके फटे हुए पन्ने गांव के कीचड़-भरे रास्ते पर बिखेर दिए थे उसके अगले ही

दिन सवेरे अपने छोटे-से अंचल में विचित्र उपहार बांधे तेज़ कदमों से वह अपने घर से निकल रही थी। बड़ी उमस होने की वजह से रात में हरकुमार को नींद नहीं आई थी। वे नंगे बदन चबूतरे पर बैठे तम्बाकू पी रहे थे। गिरि से उन्होंने पूछा, "कहां जा रही है?" गिरि ने कहा, "शशि भाई के घर।" हरकुमार ने घुड़की लगाते हुए कहा, "शशि भाई के घर जाने की ज़रूरत नहीं, चल घर के भीतर।" इतना कहकर उन्होंने कल ससुराल जानेवाली सयानी लड़की को उसमें लाज-हया की कमी के लिए बहुत डांटा-फटकारा। उसी दिन से उसका बाहर जाना बन्द हो गया। उसके बाद फिर उसे मौका ही न मिला कि वह शशिभूषण को जता आए कि वह अब रूठी हुई नहीं है। अमरस, केवड़ा, सुगन्धित कत्था और नींबू का अचार आदि चीज़ें भंडार ही में वापस चली गईं। वर्षा होने लगी, मौलश्री झरने लगी, अमरूद के पेड़ पके फलों से लद गए और काले-भौंराले, पके, मीठे जामुन चिड़ियों के चोंचों की घात लिए डालियों से गिर-गिरकर पेड़ों के नीचे एकत्र होने लगे। और हाय, गिरिबाला ने अपनी किताब तो पहले ही फाड़कर फेंक दी थी।

७

गिरिबाला के ब्याह के सिलसिले में गांव में जिस दिन शहनाई बज रही थी, अनिमन्त्रित शशिभूषण उस दिन नाव से कलकत्ता की ओर जा रहा था।

मुकदमा उठा लेने के बाद से शशिभूषण हरकुमार को फूटी आंखों न सुहाता था। इसका कारण यह था कि वे मन ही मन समझ रहे थे कि शशिभूषण उनसे घृणा करने लगा है। शशिभूषण के चेहरे पर और उसके आचरण में वे हज़ारों काल्पनिक चिह्न देखने लगे। और यह सोचकर कि जब गांव के लोग उनकी बेइज़्ज़ती का ब्योरा धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं तब अकेला शशिभूषण ही उस बुरी स्मृति को अपने मन में जगाए हुए है—उसे वे बिलकुल बरदाश्त नहीं कर पा रहे थे। उसके साथ मुलाकात होते ही उनके हृदय में एक सलज्ज संकोच का उदय होता और साथ ही साथ बड़े ज़ोर का गुस्सा भी

आ जाता। हरकुमार ने फिर सौगन्ध खा ली कि शशिभूषण को गांव से निकालना ही है।

शशिभूषण जैसे व्यक्ति को गांव से निकालना कोई मुश्किल काम नहीं था। नायब साहब की इच्छा जल्द ही पूरी हो गई। एक दिन सवेरे पुस्तकों का बोझ और दो-चार टीन के बक्से साथ लेकर शशि नाव पर सवार हो गया। गांव के साथ उसका जो एक सुख का बंधन था वह भी आज समारोह के साथ टूट रहा था। सुकोमल बन्धन ने उसके हृदय को कितनी मजबूती से जकड़ लिया था उस बात को वह पहले सम्पूर्ण रूप से जान न सका था। और आज जब गांव के घाट से नाव छूट गई, गांव के वृक्षों के शीर्ष धीरे-धीरे धुंधले होने लगे और उत्सव के बाजों की ध्वनि जब धीरे-धीरे धीमी सुनाई पड़ने लगी तब अचानक आंसुओं के वाष्प से उसका हृदय उफन उठा, उसका गला रुंध आया, रक्तोच्छ्वास से माथे की नसें तन गईं और विश्व-ब्रह्मांड के सारे दृश्य उसे परछाइयों की बनी मृगतृष्णा की भांति बहुत अस्पष्ट-से लगने लगे।

उलटी हवा बहुत तेज़ चल रही थी, इसलिए बहाव अनुकूल होने पर भी नाव धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। ऐसे ही समय नदी में एक ऐसी घटना हो गई जिससे शशिभूषण की यात्रा में बाधा पड़ गई।

स्टेशन घाट से सदर महकमा तक हाल ही में एक नई स्टीमर-लाइन चालू हुई थी। वही स्टीमर ज़ोरों से अपना पंखा चलाता हुआ प्रवाह के विरुद्ध जा रहा था। जहाज़ में नई लाइन के नौजवान साहब मैनेजर और थोड़े-से यात्री थे। उन यात्रियों में दो-एक शशि-भूषण के गांव के आदमी भी थे।

एक महाजनी नाव बहुत दूर से इस स्टीमर से होड़ लेने की कोशिश कर रही थी, जो कभी तो जहाज़ के पास आ जाती थी तो कभी पिछड़ जाती थी। मल्लाह के मन में भी कुछ ज़िद-सी सवार हो गई। उसने पहले बादबान पर दूसरा बादबान और दूसरे बादबान के ऊपर तीसरा छोटा-सा बादबान भी तान दिया। हवा के ज़ोर से लम्बा मस्तूल सामने की ओर झुक गया और विदीर्ण जलराशि नाव के दोनों ओर कल-कल स्वर में पागल की तरह नृत्य करने लगी। तब नाव

बेलगाम घोड़े की तरह चली। एक जगह पर स्टीमर का पथ कुछ घूम-कर जाता था। उसी जगह संक्षिप्त रास्ता अपनाकर नाव स्टीमर से आगे निकल गई। मैनेजर साहब बड़े ही आग्रह के साथ रेलिंग पर झुककर नाव की इस होड़ को देख रहे थे। जब नाव पूरी तेज़ी से जा रही थी और स्टीमर से दो-चार हाथ आगे बढ़ चुकी थी तब यकायक साहब ने बन्दूक उठाकर नाव के बादबान पर गोली चला दी। तत्क्षण बादबान फट गया।

यह कहना मुश्किल है कि मैनेजर ने ऐसा क्यों किया। अंग्रेज़-नन्दन के मन का भाव हम भारतवासी ठीक तरह से समझ नहीं पाते। शायद देशी बादबान की होड़ को वह बरदाश्त न कर सका हो, या शायद फूले हुए बादबान को क्षण-भर में विदीर्ण करने का एक हिंसक प्रलोभन हो, या तो यह भी हो सकता है कि इस गर्वित नाव के वस्त्र-खंड में दो-चार छेद कर क्षण-भर में उसकी नौका-लीला समाप्त कर देने में कोई प्रबल पैशाचिक हास्यरस हो।

निश्चित रूप से कुछ भी नहीं जानता हूं। लेकिन यह निश्चित रूप से जानता हूं कि उस अंग्रेज़ के मन में इतना विश्वास अवश्य था था कि इस मज़ाक के लिए उसे किसी प्रकार की सज़ा नहीं भुगतनी पड़ेगी और साथ ही उसे यह धारणा भी थी कि जिन लोगों की नाव डूबेगी और संभवत उनके प्राण भी जाएंगे, उनकी गिनती आदमियों में नहीं की जा सकती।

साहब ने जब बन्दूक उठाकर गोली चलाई और नाव डूब गई तब शशिभूषण की नाव घटनास्थल के पास जा पहुंची थी। शशि-भूषण ने नाव को डूबते हुए देखा तो उसने तुरन्त नाव बढ़वाकर मल्लाहों को अपनी नाव में चढ़ा लिया। सिर्फ एक आदमी जो भीतर बैठा रसोई के लिए मसाला पीस रहा था उसका पता न लगा। बरसाती नदी वेग से बह रही थी।

शशिभूषण के दिल में गर्म खून खौलने लगा। कानून अत्यन्त मन्दगति है। वह एक विशाल पेचीदा लौहयंत्र के समान है, नाप-तौल-कर प्रमाण ग्रहण करता है और विकारशून्य भाव से सज़ा देता है। उसमें मानव-हृदय जैसा उत्ताप नहीं है। किन्तु भूख के साथ भोजन

का, इच्छा के साथ उपभोग का और क्रोध के साथ दंड का सम्बन्ध-विच्छेद कर देना शशिभूषण की दृष्टि में अस्वाभाविक ही मालूम हुआ। बहुत-से अपराध ऐसे हैं जिन्हें देखते ही फौरन उनकी सज़ा न दे दी जाएं तो अन्तर्यामी विधाता पुरुष देखनेवाले के हृदय के भीतर प्रवेश कर उसे जलाने लगते हैं। उस समय कानून की बात याद कर तसल्ली प्राप्त करने में दिल को शर्म आती है। लेकिन मशीन का कानून और मशीन का जहाज़ मैनेजर को शशिभूषण से दूर ले गया। इससे संसार में किन-किन लोगों की कौन-कौन-सी भलाई हुई थी नहीं मालूम, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस बार शशिभूषण की भारतीय तिल्ली अंग्रेज़ की ठोकर से बच गई थी।

जो मांझी-मल्लाह बच गए थे उन्हें लेकर शशिभूषण गांव लौट आया। नाव में पटसन लदा हुआ था। उस पटसन के उद्धार के लिए आदमी लगा दिए गए और मांझी से जहाज़ के मैनेजर के खिलाफ अदालत में दरख्वास्त देने का उसने अनुरोध किया।

मांझी किसी तरह से भी तैयार न हुआ। उसने कहा कि नाव तो डूब ही चुकी है, मैं अपने को डुबो नहीं सकता हूं। पहले तो पुलिस को सलामी देनी पड़ेगी, उसके बाद काम-काज, खाना-पीना छोड़कर कचहरी के चक्कर लगाने पड़ेंगे और फिर साहब के खिलाफ शिकायत कर न जाने कैसे झंझट में फंसना पड़े और उसका क्या नतीजा हो सो भगवान ही जानें। अन्त में जब उसे मालूम हुआ कि शशिभूषण खुद वकील है, अदालत का खर्च वह स्वयं निभाएगा और मुकदमे में हर्जाना बेशक मिलेगा, तब वह तैयार हो गया। किन्तु शशिभूषण के गांव के लोग जो स्टीमर पर मौजूद थे किसी तरह से भी गवाही देने को तैयार नहीं हुए। उन लोगों ने शशिभूषण से कहा, "महाशय, हम लोगों ने कुछ भी नहीं देखा है। हम लोग जहाज़ के पीछे के हिस्से में थे, मशीन की घरघराहट और जल की कल-कल ध्वनि के कारण बन्दूक की आवाज़ सुनने की कोई भी सम्भावना नहीं थी।"

अन्त में अपने देशवासियों को आन्तरिक धिक्कार देकर शशिभूषण ने मजिस्ट्रेट के सामने खुद मामला दायर कर दिया।

गवाहों की कोई ज़रूरत न पड़ी। मैनेजर ने स्वीकार कर लिया कि उसने बन्दूक चलाई थी। उसने कहा कि आसमान में बगुलों का एक झुण्ड उड़ रहा था, उन्हींकी ओर निशाना लगाकर उसने बन्दूक चलाई थी। स्टीमर उस वक्त अपनी पूरी चाल से चल रहा था और उसी क्षण नदी के मोड़ पर घूम चुका था इसलिए वह यह भी न जान सका कि कौआ मरा या बगुला या नाव डूबी। ज़मीन और आसमान में शिकार करने लायक इतनी चीज़ों के रहते हुए कोई भी अक्लमन्द आदमी जान-बूझकर 'डर्टी रैग' यानी गन्दे कपड़े के टुकड़े पर एक छदाम का भी छर्रा बरबाद नहीं कर सकता, बन्दूक की गोली तो दरकिनार।

बेकसूर रिहा हो मैनेजर साहब चुरट में कश लगाता हुआ क्लब में 'व्हिस्ट' खेलने चला गया। जो आदमी नाव के अन्दर बैठा मसाला पीस रहा था, उसकी लाश नौ मील की दूरी पार कर किनारे से जा लगी। और शशिभूषण अपने मन की जलन लिए अपने गांव लौट आया।

जिस दिन वह गांव में लौटा, उसी दिन सजी-धजी नाव में बिठा-कर गिरिबाला को ससुराल ले जाया जा रहा था। हालांकि शशिभूषण को किसीने बुलाया नहीं था फिर भी वह धीरे-धीरे नदी के किनारे आकर खड़ा हो गया। नाव घाट छोड़कर जब उसके सामने से चली गई तब क्षण-भर के लिए वह एक बार देख सका कि नई दुलहिन घूंघट काढ़े सिर झुकाए बैठी हुई है। बहुत दिनों से गिरिबाला को उम्मीद थी कि गांव छोड़ जाने से पहले किसी तरह एक बार शशिभूषण से उसकी भेंट होगी, लेकिन आज वह जान भी न सकी कि उसके गुरु नज़दीक ही तट पर खड़े हैं। एक बार भी उसने मुंह उठाकर न देखा, सिर्फ चुपचाप रोती रही और दोनों कपोलों से आंसू झर-झर बहते रहे।

नाव धीरे-धीरे दूर जाकर अदृश्य हो गई। नदी के पानी में सवेरे की धूप झिलमिलाने लगी। निकट ही आम की डाली पर एक पपीहा उच्छ्वसित कण्ठ से बार-बार गा-गाकर अपने मन के आवेश को शान्त न कर सका, फेरी की नाव सवारियां लेकर उस पार जाने लगी, गांव

की औरतें घाट पर पानी भरने आईं और ऊंची मधुर आवाज़ में गिरिबाला की ससुराल की विदा के बारे में बखान करने लगीं। और शशिभूषण चश्मा उतार आंखें पोंछता हुआ अपने छोटे-से घर जाकर रास्ते के किनारेवाले कमरे में बैठ गया। अचानक उसे मानो गिरिबाला का स्वर सुनाई पड़ा, "शशि भैया!" कहां है री तू, कहां है? कहीं भी नहीं। घर में नहीं, रास्ते पर नहीं, गांव में नहीं,...वह है उसके आंसुओं से भीगे हृदय में।

शशिभूषण फिर अपना सामान बांध-बूंधकर कलकत्ता के लिए रवाना हो गया। कलकत्ता में कोई काम नहीं था और वहां जाने का कोई विशेष उद्देश्य भी नहीं था, इसीलिए रेल से न जाकर बराबर नदी के रास्ते से नाव पर ही जाना उसने तय किया।

उस समय भरी बरसात में बंगाल-भर में चारों ओर छोटे-मोटे, टेढ़े-मेढ़े हज़ारों जलमय जाल बिछे हुए थे। सरस हरियाली से भरी बंग-भूमि की शिरा-उपशिराएं परिपूर्ण हो गई थीं और पेड़-पौधों, झाड़-बेल, धान-पटसन, गन्ने आदि से दशों दिशाओं में उसकी उन्मत्त जवानी का प्राचुर्य मानो उद्दाम रूप से उच्छृंखल हो उठा था।

शशिभूषण की नाव उन सब संकीर्ण टेढ़े-मेढ़े जलस्रोतों में से चलने लगी। पानी तब दोनों तटों के बराबर हो गया था। कांस और नरकुल के जंगल और कहीं-कहीं धान के खेत पानी में डूब गए थे। गांव के बाड़, बंसवार और आम के बगीचे बिलकुल पानी के किनारे आ खड़े हुए थे। देवकन्याओं ने मानो बंगाल के सारे पेड़-पौधों की क्यारियां पानी से सींचकर भर दी थीं।

यात्रा की शुरूआत में, स्नान से चिकनी वनश्री उजली धूप में हंस रही थी, किन्तु थोड़ी देर बाद ही बादल घिर आए थे और पानी गिरने लगा था। तब फिर जिधर ही पानी गिरा उधर ही विषाद और मलिनता-सी दिखाई पड़ने लगी। बाढ़ आने पर गायें जिस प्रकार जल से घिरी गौशाला के कीच-भरे संकरे आंगन में भीड़ किए, करुण नेत्र लिए, बड़ी सहनशीलता के साथ खड़ी होकर सावन की वर्षा में

भीगती रहती हैं, बंग-भूमि भी अपने पंक-पिच्छिल अनसिक्त रुद्ध जंगल में मौन, विषण्ण और व्यथित होकर लगातार भीगने लगी। गांव के किसान सिर पर टोका (ताड़ के पत्ते का बना टोपा) लगाए बाहर निकले हैं, औरतें बारिश में भीगती हुई और बरसाती ठंडी हवा से सिकुड़ती हुई एक झोंपड़ी से दूसरी झोंपड़ी में अपने काम से आ-जा रही हैं और फिसलनवाले घाट पर बड़ी सावधानी से पैर रखती हुई पानी भर रही हैं और गृहस्थ पुरुष चबूतरे पर बैठे तम्बाकू पी रहे हैं। बहुत ज़रूरी काम हो तो ये पुरुष कमर में चादर लपेटकर, हाथ में जूता लिए और सिर पर छतरी लगाए बाहर निकलते हैं। अबला रमणी के लिए इस धूप से तपती और वर्षा से प्लावित बंगभूमि की सनातन पवित्र प्रथा में सिर पर छतरी लगाकर चलना मना है।

जब वर्षा ने किसी तरह से भी रुकने का नाम नहीं लिया तब बन्द नाव में बैठा-बैठा शशिभूषण ऊब गया और उसने रेल से जाना तय किया। एक जगह एक चौड़ा मुहाना आया और वहीं नाव बंधवा-कर शशिभूषण भोजन की तैयारी करने लगा।

'लंगड़े का पांव गढ़े में'—यह सिर्फ गढ़े का ही दोष नहीं है, लंगड़े पैर में भी गढ़े की ओर कुछ खास झुकाव है। शशिभूषण ने उस दिन इसका सबूत भी दे दिया।

दो नदियों के मुहाने पर मछुओं ने बांस बांधकर बड़ा भारी जाल डाल रखा था। केवल एक बगल से नावों के आने-जाने के लिए जगह छोड़ रखी थी। बहुत दिनों से वे ऐसा करते आ रहे थे और इसके लिए वे सरकार को कर भी देते थे। दुर्भाग्य से इस साल इस रास्ते से अचानक ज़िले के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट बहादुर का शुभागमन हुआ। उनका बोट आते देख मछुओं ने पहले से ही बगल से निकलने का रास्ता बताते हुए ऊंची आवाज़ से सावधान कर दिया। लेकिन मनुष्य द्वारा बनाई हुई किसी बाधा के प्रति सम्मान दिखाकर घूमके जाने की आदत साहब के मांझी को नहीं थी। उसने उस जाल के ऊपर से बोट चला दिया। जाल ने झुककर बोट के लिए रास्ता दे दिया लेकिन बोट की पतवार उसमें फंस गई। कुछ देर कोशिश के बाद पतवार निकाल ली गई।

पुलिस साहव गुस्से के मारे लाल भभूका वन गए और उन्होंने फौरन बोट रुकवाया। उनकी मूर्ति देखते ही चारों मछुए जान वचाकर भाग खड़े हुए। साहब ने अपने मल्लाहों को जाल काट डालने का हुक्म दिया। उन लोगों ने सात-आठ सौ रुपये का वह विराट जाल काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

जाल पर गुस्सा उतारने के वाद उन मछुओं को पकड़ लाने का हुक्म दिया गया। कान्स्टेबलों को वे भागे हुए मछुए न मिले तो सामने जो चार आदमी उन्हें मिल गए उन्हें पकड़कर ले आए। वे लोग अपने को वेकसूर बताकर हाथ जोड़े चिरौरी-विनती करने लगे। पुलिस वहादुर जब इन कैदियों को साथ ले चलने का हुक्म दे रहे थे तो चश्मा पहने हुए शशिभूषण झटपट वदन पर कुरता डाले, विना बटन लगाए ही, चप्पल फटफटाते हुए दौड़कर बोट के सामने जा खड़ा हुआ। कांपते हुए कंठ से उसने कहा, "सर, मछुओं का जाल काटने और इन चार आदमियों पर अत्याचार करने का आपको कोई अधिकार नहीं है।"

पुलिस के वड़े साहब ने हिन्दी भाषा में उसे एक विशेष असम्मान-सूचक वात कही जिसे सुनते ही वह थोड़ी-सी ऊंची कगार से कूदकर बोट पर एकदम साहब के ऊपर जा पड़ा और क्रुद्ध वालक की तरह साहब को मारने लगा।

उसके बाद क्या हुआ यह उसे नहीं मालूम। थाने में जब उसे होश आया तो कहने में संकोच होता है कि उसके प्रति जैसा व्यवहार किया गया। उससे उसे मानसिक सम्मान या शारीरिक आराम का बोध नहीं हुआ।

९

शशिभूषण के पिता ने वकील-बैरिस्टर लगाकर पहले तो ज़मानत देकर लड़के को हवालात से छुड़ाया और उसके बाद मुकदमे की तैयारियां करने लगे।

जिन मछुओं का जाल काटकर बरबाद किया गया था वे शशिभूषण ही के परगने के रहनेवाले थे, एक ही ज़मींदार के अधीन थे। विपत्ति

के समय कभी-कभी वे शशि से कानूनी सलाह भी लेने आते थे। और जिन्हें साहब अपने बोट में पकड़वा लाए थे वे भी शशिभूषण से अपरिचित न थे।

शशिभूषण ने उन सबको गवाही के लिए बुलवाया। सुनकर वे बहुत घबराए। बाल-बच्चों को लेकर जिन्हें घर-गिरस्ती करनी पड़ती है वे पुलिस से लड़कर कहां बच पाएंगे ? एक शरीर में दो प्राण किसके हैं ? जो नुकसान होने को था सो तो हो चुका था, अब गवाही-अवाही में फंसकर नया रोग क्यों मोल लें।

काफी कहने-सुनने के बाद उन लोगों ने सच बात कहना मान लिया।

इसी बीच हरकुमार किसी दिन बैंच के काम से ज़िले के साहबों को सलाम करने गए तो पुलिस साहब ने हंसकर कहा, "नायब बाबू, सुन रहा हूं कि तुम्हारी रिआया पुलिस के खिलाफ झूठी गवाही देने की तैयारी कर रही है।" नायब ने चौंककर कहा, "अयं ! ऐसा भी कहीं हो सकता है ! नापाक जानवरों के पिल्लों की हड्डियों में इतनी ताकत !"

अखबार पढ़नेवालों को मालूम है कि मुकदमे में शशिभूषण का पक्ष बिलकुल न टिक सका।

एक-एक कर सभी मछुओं ने आकर कहा कि पुलिस साहब ने उनका जाल नहीं काटा। वे उन लोगों को बोट पर बुलाकर नाम-सकूनत लिख रहे थे।

सिर्फ इतना ही नहीं, उनके गांव के कुछ परिचित लोगों ने गवाही दी कि वे उस समय किसी बारात में जा रहे थे और वहां मौजूद थे। उन लोगों ने अपनी आंखों से देखा है कि शशिभूषण पुलिस के सिपाहियों पर बेमतलब उपद्रव कर रहा है।

शशिभूषण ने स्वीकार किया कि गाली खाकर उसने बोट पर जाकर साहब को पीटा है। लेकिन जाल काट देना और मछुओं पर अत्याचार ही इसका मूल कारण है।

ऐसी हालत में अदालत से शशिभूषण को जो सज़ा दी गई उसे गैरमुनासिब तो नहीं कहा जा सकता। पर हां, सज़ा कुछ करारी ही

हो गई। तीन-चार जुर्म थे—चोट पहुंचाना, अनधिकार प्रवेश, पुलिस के काम में रुकावट डालना आदि। और सभी जुर्म प्रमाणित हो गए।

शशिभूषण अपने उस छोटे-से कमरे में अपनी प्रिय पुस्तकें छोड़कर पांच साल की कैद भुगतने चला गया। उसके पिता अपील करने को तैयार हुए तो शशिभूषण ने उनसे बार-बार मना करते हुए कहा, "जेल अच्छी है! लोहे की बेड़ियां झूठ नहीं बोलतीं, किन्तु जेल के बाहर जो आज़ादी है वह हम लोगों को धोखा देकर मुसीबत में डाल देती है। और अगर सत्संग की बात करते हो तो मेरा विचार यह है कि जेल में झूठे, अहसान-फरामोश और कायरों की संख्या कम है, क्योंकि वहां जगह सीमित है। बाहर उनकी संख्या उससे कहीं ज़्यादा है।"

१०

शशिभूषण के जेल जाने के कुछ दिनों के बाद ही उसके पिता की मृत्यु हो गई। उसके परिवार में विशेष कोई नहीं था। एक भाई बहुत दिनों से मध्यभारत में काम करता था, वह शायद ही कभी गांव-देश आता था। वहीं पर उसने अपना मकान बना लिया था और सपरिवार वहां का स्थायी बाशिन्दा बन गया था। देश में जो ज़मीन-जायदाद थी, उसका अधिकांश ही नायब हरकुमार ने तिकड़मों के ज़रिये हड़प लिया था।

जेल में ज़्यादातर कैदियों को जो तकलीफ सहनी पड़ती है, किस्मत के मारे शशिभूषण को उससे कहीं ज़्यादा सहनी पड़ी। फिर भी पांच साल का लम्बा अरसा बीत ही गया।

फिर एक दिन बरसात के दिनों में टूटा शरीर और सूना दिल लिए वह जेलखाने की दीवार के बाहर आकर खड़ा हुआ। जेल के बाहर उसे आज़ादी तो मिली लेकिन इसके अलावा जेलखाने के बाहर उसका कोई या कुछ भी नहीं था। गृहहीन, आत्मीयहीन, समाजहीन उस अकेले के लिए इतना बड़ा संसार बड़ा सूना-सा लगने लगा।

इस जीवन-यात्रा के टूटे हुए डोरे को फिर कहां से शुरू करे, यह

सोच ही रहा था कि इतने में एक बड़ी-सी बग्घी उसके सामने आ खड़ी हुई। एक नौकर ने उतरकर पूछा, "आपका नाम क्या बाबू शशिभूषण है ?"

उसने कहा, "हां।"

फौरन उस नौकर ने बग्घी का दरवाज़ा खोल दिया और उसके सवार होने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। शशिभूषण ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा, "मुझे कहां जाना होगा ?"

उसने कहा, "हमारी मालकिन ने आपको बुलाया है।"

राहगीरों की कौतूहल-दृष्टि असह लगने से ज़्यादा पूछताछ किए बिना ही वह गाड़ी पर सवार हो गया। सोचा, बेशक इसमें कोई भ्रम है। बहरहाल कहीं न कहीं तो उसे जाना ही है। न हो तो इसी भ्रम से ही नये जीवन की भूमिका शुरू होने दे।

उस दिन भी आकाश में धूप और बादल एक-दूसरे के शिकार में भटक रहे थे। वर्षा से डूबे हुए पथ के दोनों किनारे के हरे-भरे खेत चंचल छाया और प्रकाश से विचित्र रूप ले रहे थे। हाट के पास एक बड़ा-सा रथ खड़ा था और उसके पास ही पंसारी की दूकान के सामने वैष्णव भिक्षुओं का एक दल गोपीयंत्र (एकतारा), मृदंग और करताल के साथ गीत गा रहा था :

आओ, फिर नाथ हे—
क्षुधित, तृषित, तप्त चित्त
व्याकुल मन—आओ हे !

गाड़ी आगे बढ़ने लगी और गीत के पद दूर से दूरतर होते कानों में प्रवेश करने लगे :

आओ हे निष्ठुरमन
मेरे तुम करुण कान्त
आओ रे सजल जलद
—रूप लिए—आओ ! फिर नाथ हे

गीत के शब्द क्रमशः क्षीणतर और अस्पष्ट होने लगे और बैं में कुछ समझ नहीं आने लगा। किन्तु गीत के छन्द ने शशिभूषण के हृदय में एक उथल-पुथल मचा दी। वह मन ही मन एक-एक पद

जोड़ता गुनगुनाता ही रहा, किसी भी तरह से अपने को रोक न सका :

मेरे नित्य सुख आओ
मेरे चिर दुःख आओ
मेरे सुख-दुःखों के सार सकल
आओ तुम अन्तर में।
मेरे चिर इच्छित तुम
मेरे चिर संचित तुम
चंचल चिरन्तन तुम
आओ भुज - बन्धन में।
मेरे मनवासी तुम
मेरे नयनवासी तुम
शयन, स्वप्न, वसन तुम
निखिल भुवन भूषण तुम
आओ ! फिर नाथ हे !
अधरों के हास्य तुम
नयनों के नीर तुम
मेरे मृदु प्रेम तुम
जीवन की छलना तुम
मेरे मृदु मान तुम
आओ फिर स्मृति-धन, जीवन-भ्रम
मेरे धर्म-कर्म तुम
लज्जा, सौभाग्य तुम
जन्म-मरण मेरे हे ! आओ फिर नाथ हे !

गाड़ी जब एक चहारदीवारी से घिरे बाग में जाकर एक बहुत बड़ी कोठी के सामने खड़ी हुई तो शशिभूषण का गाना भी रुक गया। किसीसे कोई प्रश्न न कर नौकर के निर्देश के अनुसार वह मकान में चला गया।

जिस कमरे में वह आकर बैठा उस कमरे में चारों ओर शीशे की अलमारियों में विचित्र रंगों की विचित्र जिल्दवाली किताबें सजी

हुई थीं। यह दृश्य देखते ही उसका पुराना जीवन मानो फिर एक बार कारागार से मुक्त होकर निकल आया। चारों ओर सुनहरे अक्षरों से अंकित विभिन्न रंगों की जिल्दों की किताबों का समूह उसे ऐसा लगने लगा कि मानो वह उसके लिए आनन्दलोक में प्रवेश करने का सुपरिचित रत्न-विभूषित सिंहद्वार हो।

मेज़ पर भी कुछ चीज़ें रखी थीं। शशिभूषण अपनी क्षीण दृष्टि लिए उनपर झुक गया और देखने लगा। देखा, एक टूटी हुई स्लेट, उसपर कुछ पुरानी कापियां, एक फटी हुई पहाड़े की किताब, कथा-माला और काशीराम दास का लिखा महाभारत रखा है।

स्लेट की चौखट के ऊपर खुद शशिभूषण के हाथ की लिखावट में, मोटे-मोटे अक्षरों में, लिखा है—गिरिबाला देवी। कापियों और किताबों पर भी उसी एक ही लिखावट में एक ही नाम लिखा हुआ।

शशिभूषण समझ गया कि वह कहां आया है। उसके हृदय के भीतर रक्त का प्रवाह लहरा उठा। खुली हुई खिड़की में से उसने बाहर की ओर देखा। उसे वहां क्या दिखाई पड़ा? अपने गांव का वह ऊबड़-खाबड़ रास्ता—-धारीदार साड़ी पहने हुए वह छोटी-सी लड़की और अपनी वह शान्तिपूर्ण, एकान्त, निश्चिन्त जीवन-यात्रा।

उस दिन का उसके उस सुख का जीवन कुछ भी असामान्य न था। योंही छोटे-छोटे कामों में और छोटे-छोटे सुखों में वे दिन बीत जाते थे। उसके अपने अध्ययन-कार्य में एक बालिका छात्रा का अध्यापन-कार्य एक मामूली-सी घटना थी। लेकिन फिर भी ग्राम-प्रान्तर की वह निर्जन जीवन-धारा, वह छोटी-सी शान्ति, वह छोटा-सा सुख, उस छोटी-सी लड़की का नन्हा-सा मुखड़ा सभी कुछ मानो स्वर्ग-सा देश-काल से न्यारा और अधिकार के अतीत के रूप में, केवल आकांक्षा-राज्य में कल्पना की छाया में विराज रहा था। उस दिन के उन चित्रों और स्मृतियों ने आज के इस वर्षा से मलिन प्रभात के प्रकाश के साथ और मन में उस कीर्तन के पद की गुंजन से घुल-मिलकर एक प्रकार का संगीतमय, प्रकाशमय अनोखा रूप धारण कर लिया। जंगल से घिरे, कीचड़ से भरे, संकरे ग्राम-पथ पर अनादर से व्यथित

और रूठे हुए मुख की अन्तिम स्मृति, मानो ईश्वर-निर्मित एक असामान्य, अनोखा, अनूप, अत्यन्त गम्भीर और बड़ी वेदना से भरा स्वर्गीय चित्र बनकर उसके मानस-पट पर उभर आया। अपना मुख दोनों हाथों में छिपाए, उस मेज़ पर रखी स्लेट, किताब-कापियों पर मुख रखे बहुत दिनों के बाद शशिभूषण आज बहुत पुराना सपना देखने लगा।

बहुत देर के बाद एक हलकी आहट से चौंककर उसने मुंह उठाया। उसके सामने चांदी की थाली में फल-मूल, मिठाई रखकर गिरिबाला निकट खड़ी चुपचाप प्रतीक्षा कर रही थी। उसके सिर उठाते ही निराभरण शुभ्रवसना विधवा-वेशधारिणी गिरिबाला ने घुटने टेककर उसे प्रणाम किया।

और फिर उस विधवा ने उठकर जब मुरझाए हुए मुख, पीले चेहरे और दुबले शरीर के शशिभूषण को करुणा-स्निग्ध नयनों से देखा तो उसकी आंखों से आंसू उसके कपोलों पर झर-झर झर रहे थे।

शशिभूषण ने उससे कुशल-मंगल पूछने की कोशिश की, लेकिन उसे भाषा ढूंढ़े न मिली, निरुद्ध अश्रुवाष्प ने उसके वाणी-पक्ष को अवरुद्ध कर दिया। वाणी और अश्रु दोनों ही बेबस हो हृदय के मुख पर, कंठ के द्वार पर आकर रुक गए। इतने में कीर्तन करनेवाला वह दल भीख मांगता हुआ उस कोठी के सामने आ खड़ा हो गया और बार-बार दुहरा-दुहराकर गाने लगा :

'आओ, फिर नाथ हे!'

रचनाकाल :
कुआर १३०१ बंगाब्द
सन् १८९४ ई०

२ | काबुलीवाला

मेरी पांच वरस की छोटी लड़की मिनी से क्षण-भर भी बात किए बिना नहीं रहा जाता। धरती पर जन्म लेने के बाद भाषा सीखने में उसने केवल एक ही साल लगाया था और उसके बाद से जब तक वह जागती रहती है तब तक के समय का एक भी क्षण वह मौन रहकर नष्ट नहीं करती। उसकी मां कभी-कभी धमकाकर उसका मुंह बन्द कर देती है पर मैं ऐसा नहीं कर पाता। मिनी अगर खामोश रहे तो वह ऐसी अस्वाभाविक-सी लगती है कि मुझसे यह ज़्यादा देर तक सहा नहीं जाता। और सही कारण यह है कि उसके साथ मेरा वार्तालाप कुछ ज़्यादा उत्साह के साथ चलता है।

सवेरे मैं अपने उपन्यास के सत्रहवें परिच्छेद को लिखने जा ही रहा था कि मिनी ने आकर शुरू कर दिया, "बाबू, रामदयाल दरबान काक को कौवा कह रहा था। वह कुछ नहीं जानता। है न बाबू ?"

संसार की भाषाओं की विभिन्नता के विषय में मैं उसे कुछ ज्ञान-दान करने को ही था कि उसने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया। "सुनो बाबू, भोला कह रहा था कि आसमान से हाथी सूंड से पानी गिराता है और तभी बारिश होती है। हाय अम्मा, भोला झूठमूठ को इतना बकता है! बस बकता ही रहता है, दिन-रात बकता रहता है, बाबू।"

इस बारे में मेरी राय के लिए तनिक भी इन्तज़ार न कर वह अचानक पूछ बैठी, "क्यों बाबू, अम्मा तुम्हारी कौन लगती है ?"

मैंने मन ही मन कहा, 'साली', और मुंह से कहा, "मिनी, तू जा, जाकर भोला के साथ खेल। मुझे अभी काम करना है।"

तब वह मेरी लिखने की मेज के पास मेरे पैरों के निकट बैठ गई

और दो घुटने और हाथ हिला-हिलाकर, फुर्ती से मुंह चलाते हुए रटने लगी, "आगडुम-बागडुम घोड़ा-डुम साजे।" उस समय मेरे उपन्यास के सत्रहवें परिच्छेद में प्रतापसिंह कांचनमाला को लेकर अंधेरी रात में कारागार की ऊंची खिड़की से नीचे नदी के पानी में कूद रहे थे।

मेरा कमरा सड़क के किनारे था। यकायक मिनी 'अक्को-बक्को, तीन तिलक्को' खेल छोड़कर खिड़की के पास दौड़ी-दौड़ी गई और ज़ोर से चिल्लाकर बुलाने लगी, "काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला!"

गन्दे-से ढीले कपड़े पहने, सिर पर पगड़ी बांधे, कन्धे पर झोली लादे और हाथ में अंगूर की दो-चार पिटारियां लिए एक लम्बा-सा काबुली धीमी चाल से सड़क पर जा रहा था। उसे देखकर मेरी बिटिया-रानी के मन में कैसे भावों का उदय हुआ यह बताना मुश्किल है, पर वह ज़ोर-ज़ोर से उसे पुकारने लगी। मैंने सोचा, अभी कन्धे पर झोली लादे एक आफत मेरे सिर पर आ सवार होगी और मेरा सत्रहवां परिच्छेद समाप्त होने से रह जाएगा।

लेकिन मिनी की चिल्लाहट से ज्योंही काबुली ने हंसकर मुंह घुमाया और मेरे घर की ओर आने लगा, त्योंही मिनी जान लेकर अन्दर की ओर भाग गई—और फिर वह लापता ही हो गई। उसके मन में एक अन्धविश्वास-सा जम गया था कि उस झोली के अन्दर ढूंढ़ने पर मिनी जैसी दो-चार जीवित मानव-सन्तानें मिल सकती हैं।

इधर काबुली ने आकर हंसते हुए मुझे सलाम किया और खड़ा हो गया। मैंने सोचा कि हालांकि प्रतापसिंह और कांचनमाला दोनों की दशा बहुत ही संकटापन्न है, फिर भी इस आदमी को घर में बुलाकर इससे कुछ न खरीदना ठीक नहीं होगा।

कुछ चीजें खरीदीं। उसके बाद इधर-उधर की चर्चा भी आ गई। अब्दुलरहमान से रूस, अंग्रेज़, सीमान्त-रक्षा-नीति आदि विषयों पर बातें होने लगीं।

अन्त में उठते समय उसने पूछा, "बाबूजी, तुम्हारी लड़की कहां गई?"

मिनी के मन से निराधार भय दूर करने के इरादे से उसे अन्तः-पुर से बुलवा लिया। वह मेरे बदन से सटकर खड़ी हो गई और

सन्देह-भरी आंखों से काबुली का चेहरा और उसकी झोली की ओर देखती रही। काबुली ने झोली में से किशमिश और खुबानी निकालकर देना चाहा, पर उसने किसी तरह से भी नहीं लिया—दुगने सन्देह के साथ वह मेरे घुटनों से चिपकी रही। पहला परिचय इस तरह से हुआ।

कुछ दिनों के बाद, एक दिन सवेरे किसी ज़रूरत से मैंने घर के बाहर निकलते समय देखा कि मेरी दुहिता दरवाज़े के पासवाली बैंच पर बैठी बेरोक-टोक बातें करती जा रही है और काबुली उसके पैरों के पास बैठा-बैठा मुस्कराता हुआ सुन रहा है और बीच-बीच में प्रसंग के अनुसार अपनी राय भी खिचड़ी भाषा में ज़ाहिर कर रहा है। मिनी के पांच साल के जीवन के अनुभव में 'बाबू' के अलावा ऐसा धैर्यशील श्रोता शायद ही कभी मिला हो। फिर देखा कि उसका छोटा-सा आंचल बादाम, किशमिश से भरा हुआ है। मैंने काबुली से कहा, "इसे यह सब क्यों दिया। ऐसा मत करना।" इतना कहकर मैंने जेब से एक अठन्नी निकालकर उसे दे दी। उसने बेझिझक अठन्नी लेकर अपनी झोली में डाल ली।

घर लौटकर देखा कि उस अठन्नी को लेकर बड़ा हो-हल्ला शुरू हो गया है।

मिनी की मां एक सफेद चमचमाता गोलाकार पदार्थ हाथ में लिए डांटकर मिनी से पूछ रही थी, "तुझे यह अठन्नी कहां से मिली?"

मिनी ने कहा, "काबुलीवाला ने दी है।"

उसकी मां बोली, "काबुलीवाला से तूने अठन्नी ली क्यों?"

मिनी रुआंसी-सी होकर बोली, "मैंने मांगी नहीं, उसने खुद ही दे दी।"

मैंने आकर मिनी को उस आसन्न विपत्ति से बचाया और उसे बाहर ले आया।

खबर मिली कि काबुली के साथ मिनी की यह दूसरी मुलाकात हो ऐसी बात नहीं। इस बीच वह रोज़ आता रहा है और पिस्ता-बादाम की घूस देकर उसने मिनी के नन्हे लोभी हृदय पर काफी

अधिकार जमा लिया है।

देखा कि इन दोनों मित्रों में कुछ बंधी हुई बातें और हंसी होती रही है। जैसे रहमान को देखते ही मेरी लड़की हंसती हुई उससे पूछती, "काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला तुम्हारी झोली के भीतर क्या है?"

रहमान एक अनावश्यक चन्द्रबिन्दु जोड़कर जवाब देता, "हांथी!"

यानी उसकी झोली के भीतर एक हाथी है, यही उनके परिहास का सूक्ष्म भावार्थ था। उसके परिहास का अर्थ बहुत ही सूक्ष्म है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इस परिहास से दोनों को ही बड़ा मज़ा आता। और शरद्ऋतु के प्रभात में एक सयाने और कम उम्र के शिशु की सरल हंसी मुझे भी बड़ी अच्छी लगती।

उन दोनों में और एक बात चल रही थी। रहमान मिनी से कहता, "खोंखी,* तुम कभी ससुराल मत जाना, हां।"

बंगाली घर की लड़कियां जन्म से ही ससुराल शब्द से परिचित हो जाती हैं, लेकिन हम लोगों ने, ज़रा आधुनिक-युग के होने के कारण, नन्ही-सी बच्ची को अभी ससुराल के बारे में सचेत नहीं किया था। इसलिए रहमान का अनुरोध वह साफ-साफ नहीं समझ पाती थी, लेकिन बात का कोई जवाब न देकर चुप रहना उसके स्वभाव के बिलकुल विरुद्ध था। वह पलटकर रहमान से पूछ बैठती, "तुम ससुराल जाओगे?"

रहमान काल्पनिक श्वसुर के प्रति अपना बहुत बड़ा घूंसा तानकर कहता, "हम ससुर को मारेगा!"

यह सुनकर मिनी 'ससुर' नामक किसी अपरिचित जीव की दुखी अवस्था की कल्पना कर खूब हंसती।

अब शुभ्र शरद्काल था। प्राचीनकाल में इसी समय राजा लोग दिग्विजय करने निकलते थे। मैं कलकत्ता छोड़कर कहीं नहीं गया, लेकिन शायद इसीलिए मेरा मन संसार-भर में घूमा करता है।

*बंगला शब्द 'खुकी' (मुन्नी) का विकृत रूप!

मैं मानो अपने घर के कोने में चिरप्रवासी हूं। बाहर की दुनिया के लिए मेरा मन हमेशा बेचैन रहता है। किसी विदेश का नाम सुनते ही मेरा चित्त वहीं दौड़ जाता और किसी विदेशी आदमी के देखते ही फौरन मेरा मन नदी-पर्वत-अरण्य के बीच एक कुटिया का दृश्य देखने लगता है और एक उल्लासमय स्वतंत्र जीवन का चित्र कल्पना में जागरित हो उठता है।

इधर मैं भी इतना निश्चलस्वभाव यानी कुन्ना प्रकृति का हूं कि अपना कोना छोड़कर ज़रा बाहर निकलने में ही सिर पर गाज के गिरने-सा अनुभव होने लगता है। इसलिए सवेरे अपने छोटे कमरे में मेज़ के सामने बैठकर इस काबुली से गप्पें लड़ाके मैं बहुत कुछ भ्रमण का उद्देश्य पूरा कर लिया करता हूं। दोनों ओर उबड़-खाबड़, दुर्गम, जले हुए, लाल-लाल ऊंचे पहाड़ों की माला, बीच में संकरे रेगिस्तानी रास्ते और उनपर सामान से लदे ऊंटों का काफिला चल रहा है। पगड़ी बांधे सौदागर और मुसाफिर कोई ऊंट पर तो कोई पैदल जा रहे हैं, किसीके हाथ में बरछी है तो किसीके हाथ में पुराने ज़माने की चकमक पत्थर से दगनेवाली बन्दूक है। काबुली अपने मेघ-गर्जन के स्वर में, खिचड़ी भाषा में अपने वतन के बारे में सुनाता रहता और यह चित्र मेरी आंखों के सामने काफिलों के समान निकलता जाता।

मिनी की मां बड़े ही शंकित स्वभाव की है। रास्ते पर कोई आवाज़ होते ही उसे लगता कि दुनिया-भर के सारे शराबी मतवाले होकर हमारे मकान की ओर ही भागते चले आ रहे हैं। यह दुनिया हर कहीं चोर-डाकू, शराबी, सांप, बाघ, मलेरिया, सूंओं, तिलचट्टों और गोरों से भरी है यही उनका ख्याल है। इतने दिनों से (हालांकि बहुत ज़्यादा दिन नहीं) दुनिया में रहने के बाद भी उसके मन से यह विभीषिका दूर नहीं हुई।

खास तौर से रहमान काबुली के बारे में वह सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त नहीं थी। उसपर विशेष दृष्टि रखने के लिए वह मुझसे बार-बार अनुरोध करती थी। मैं उसके सन्देह को हंसकर उड़ा देने की कोशिश करता तो वह मुझसे एक-एक कर कई सवाल पूछ बैठती—

"क्या कभी किसीका लड़का चुराया नहीं गया ?" "क्या काबुल में गुलामी-प्रथा चालू नहीं है ?" "एक लम्बे-चौड़े काबुली के लिए क्या एक छोटे बच्चे को चुरा ले जाना बिलकुल असम्भव बात है ?".

मुझे मानना पड़ता कि यह बात बिलकुल असम्भव तो नहीं पर विश्वास योग्य नहीं है। विश्वास करने की शक्ति हरएक में समान नहीं होती, इसलिए मेरी स्त्री के मन में डर बना ही रह गया। लेकिन सिर्फ इसलिए बिना किसी दोष के रहमान को अपने घर में आने से मैं मना नहीं कर सका।

हर साल माघ महीने में रहमान अपने मुल्क चला जाता है। इस समय वह अपने रुपयों की वसूली में बहुत फंसा रहता है। घर-घर दौड़ना पड़ता है फिर भी वह एक बार मिनी से आकर मिल ही जाता है। देखने से ऐसा लगता है मानो दोनों में कोई साज़िश चल रही हो। जिस दिन सवेरे नहीं आ पाता, उस दिन देखता हूं कि वह शाम को आया है। अंधेरे कमरे के कोने में उस ढीले-ढाले जामा-पायजामा पहने झोला-झोलीवाले लम्बे-तड़ंगे आदमी को देखकर सचमुच मन में अचानक एक आशंका-सी होने लगती है। लेकिन जब मैं देखता हूं कि मिनी 'काबुलीवाला, काबुलीवाला' कहकर हंसते-हंसते दौड़ आती और अलग-अलग उम्र के दो मित्रों में पुराना सरल परिहास चलने लगता है तो मेरा सारा हृदय खुशी से भर जाता है।

एक दिन सवेरे अपने छोटे कमरे में बैठा अपनी किताब का प्रूफ देख रहा था। सर्दी, खत्म होने से पहले, आज दो-तीन दिन से कड़ाके की पड़ रही थी। चारों ओर सबके दांत किटकिटा रहे थे। खिड़कियों के रास्ते से धूप आकर मेज़ के नीचे मेरे पैरों पर पड़ रही थी—उसकी गर्मी मुझे बड़ी सुहावनी लग रही थी। सुबह के करीब आठ बजे होंगे। गुलूबन्द लपेटे ऊषाचर लोग अपना प्रातःकालीन भ्रमण समाप्त कर घर लौट रहे थे। ऐसे ही समय सड़क पर बड़ा शोर-गुल सुनाई पड़ा।

देखा, हम लोगों के उस रहमान को दो सिपाही बांधे लिए आ रहे हैं और उसके पीछे-पीछे तमाशबीन लड़कों का झुण्ड चला आ

रहा है। रहमान के कपड़ों पर खून के दाग हैं और एक सिपाही के हाथ में खून से सना हुआ छुरा है। मैंने दरवाज़े से बाहर जाकर सिपाहियों से पूछा कि मामला क्या है।

कुछ तो उस सिपाही से और कुछ रहमान से सुना कि हमारे पड़ौस में एक आदमी ने रहमान से उधार में एक रामपुरी चादर खरीदी थी। उसके कुछ रुपये अब भी उसपर बाकी थे जिसे देने से वह मुकर गया और इसीपर बहस होते-होते रहमान ने उसे छुरा भोंक दिया।

रहमान उस झूठे आदमी के प्रति तरह-तरह की अश्रव्य गालियां सुना रहा था कि इतने में 'काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला' पुकारती हुई मिनी घर से निकल आई।

क्षण-भर में रहमान का चेहरा निर्मल हास्य से खिल उठा। उसके कन्धे पर आज झोली नहीं थी, इसलिए झोली के बारे में दोनों मित्रों की पुरानी चर्चा न छिड़ सकी। मिनी आते ही यकायक उससे पूछ बैठी, "तुम ससुराल जाओगे।"

रहमान ने हंसकर कहा, "वहीं तो जा रहा हूं।"

उसने देखा कि यह जवाब मिनी से लिए हास्यजनक न हुआ, तब उसने हाथ दिखाते हुए कहा, "ससुर को मारता, पर करूं क्या, हाथ बंधे हैं।"

संगीन चोट पहुंचाने के जुर्म में रहमान को कई साल की कैद की सजा हो गई।

उसके बारे मैं धीरे-धीरे भूल ही गया। हम लोग जब अपने-अपने घरों में बैठे प्रतिदिन के कामों में लगे हुए आराम से दिन गुज़ार रहे थे तब एक स्वाधीन पर्वतचारी पुरुष जेल की दीवारों के अन्दर कैसे साल पर साल गुज़ार रहा है यह बात कभी हमारे मन में नहीं आई।

और चंचलहृदया मिनी का बर्ताव और भी शर्मनाक था, यह बात उसके बाप को भी माननी पड़ेगी। उसने बड़े ही बेलौस ढंग से अपने पुराने मित्र को भूलकर पहले तो नबी सईस के साथ दोस्ती कर ली, फिर धीरे-धीरे जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ने लगी वैसे-वैसे सखाओं

के बदले एक के बाद एक-एक कर सखियां जुटने लगीं। यहां तक कि अब वह अपने बाबू के लिखने के कमरे में भी नहीं दिखाई देती। मैंने एक तरह से उसके साथ कुट्टी कर रखी है।

कितने ही वर्ष बीत गए। फिर शरद् ऋतु आई है। मेरी मिनी की शादी तय हो गई है। दुर्गापूजा की छुट्टी में ही उसका ब्याह हो जाएगा। कैलासवासिनी पार्वती के साथ-साथ मेरे घर की आनन्द-मयी भी पिता का घर अंधेरा कर पति के घर जाएगी।

बड़े ही सुहावने ढंग से आज प्रभात में सूर्योदय हुआ है। बरसात के बाद शरद् की नई, धुली हुई धूप ने मानो सुहागे में गलाए हुए निर्मल खरे सोने का रंग अपना लिया है। कलकत्ता की गलियों में आपस में सटी टूटी ईंटोंवाली गन्दी-सी इमारतों पर भी इस धूप की आभा ने एक अनोखी रमणीयता ला दी है।

हमारे घर पर प्रभात होने के पहले से ही शहनाई बज रही है। मुझे ऐसा लग रहा है मानो वह शहनाई मेरे सीने में से पसलियों में रोती हुई बज रही है। उसकी करुण भैरवी रागिनी मानो मेरी आसन्न विच्छेद-वेदना को शरद् की धूप के साथ विश्व-भर में व्याप्त किए दे रही हो। मेरी मिनी का आज ब्याह है।

सवेरे से ही बड़ा गुल-गपाड़ा और लोगों का आना-जाना शुरू हो गया। आंगन में बांस बांधकर शामियाना लगाया जा रहा है, मकान के कमरों में और बरामदे पर झाड़ लटकाए जाने की टन-टन सुनाई पड़ रही है। गुहार-पुकार का तो कोई अन्त ही नहीं।

मैं अपने पढ़ने-लिखनेवाले कमरे में बैठा खर्च का हिसाब लिख रहा था कि रहमान आकर सलाम करते हुए खड़ा हो गया।

शुरू में मैं उसे पहचान न सका। उसके पास वह झोली नहीं थी। उसके वे लम्बे पट्टेदार बाल नहीं थे और न चेहरे पर चमक थी। अन्त में उसकी मुस्कराहट देखकर उसे पहचान गया।

पूछा, "क्यों रहमान, कब आए?"

उसने कहा, "कल शाम को जेल से छूटा हूं।"

सुनते ही, यह बात मानो मेरे कानों में खट से लगी। किसी

क़ातिल को मैंने कभी अपनी आंखों से नहीं देखा। इसे देखकर मेरा सारा अन्त:करण मानो संकुचित-सा हो गया। मेरी यही इच्छा होने लगी कि आज के इस शुभ दिवस पर यह आदमी यहां से चला जाए तो बहुत अच्छा हो।

मैंने उससे कहा, "आज हमारे घर में एक ज़रूरी काम है। मैं उसीमें लगा हुआ हूं, आज तुम जाओ।"

सुनते ही वह जाने को तैयार हुआ। लेकिन आखिर तक दरवाज़े के पास जाकर कुछ आनाकानी करते हुए बोला, "एक बार खोंखी को नहीं देख सकता क्या?"

शायद उसके मन में यही धारणा थी कि मिनी अभी तक वैसी ही बनी हुई है। शायद उसने सोचा था कि मिनी फिर वैसे ही पहले की तरह 'काबुलीवाला, काबुलीवाला' पुकारती और भागती हुई आएगी और उसके विलक्षण हास्यालाप में किसी तरह का फर्क नहीं आएगा। यहां तक कि पहले की मित्रता की याद कर वह एक पिटारी अंगूर और कागज़ के दोने में थोड़ा किशमिश-बादाम शायद किसी अपने वतनी दोस्त से मांग-जांचकर ले आया था—उसकी पहलेवाली झोली उसके पास नहीं थी।

मैंने कहा, "आज घर पर काम है। आज किसीसे मुलाकात न हो सकेगी।"

वह मानो कुछ उदास-सा हो गया। स्तब्ध खड़ा मेरी ओर एकटक देखता रहा, फिर 'सलाम बाबू' कहकर वह दरवाज़े से बाहर निकल गया।

मेरे हृदय में एक टीस-सी उठी। सोच रहा था कि उसे बुला लूं कि देखा वह खुद ही लौटा आ रहा है।

नज़दीक आकर उसने कहा, "यह अंगूर और किशमिश और बादाम खोंखी के लिए ले आया हूं, उसको दे दीजिएगा।"

वह सब लेकर मैंने दाम देना चाहा तो उसने यकायक मेरा हाथ पकड़ लिया, कहा, "आपकी बड़ी मेहरबानी है बाबू, हमेशा याद रहेगी—मुझे पैसा न दें।···

"बाबू, जैसी तुम्हारी लड़की है वैसी मेरी भी एक लड़की वतन

में है। मैं उसकी याद कर तुम्हारी खोंखी के लिए थोड़ी-सी मेवा हाथ में लिए चला आता था। मैं यहां सौदा बेचने नहीं आता।"

इतना कहकर उसने अपने ढीले-ढाले कुरते के अन्दर हाथ डालकर एक मैला-सा कागज का पुर्जा निकाला और बड़े जतन से उसकी तह खोलकर दोनों हाथों से उसे फैलाकर मेज़ पर रख दिया।

देखा, कागज़ पर एक नन्हे-से हाथ के पंजे की छाप है। फोटो नहीं, तैलचित्र नहीं, सिर्फ हथेली में थोड़ी-सी कालिख लगाकर उसी-का निशान ले लिया गया है। कन्या की इतनी-सी यादगार छाती से लगाए रहमान हर साल कलकत्ता की गलियों में मेवा बेचने आता था—मानो उस सुकोमल क्षुद्र हाथ का स्पर्श उसके विशाल विरही वक्ष में अमृत घोले रहता था।

देखकर मेरी आंखें सजल हो आईं। फिर मैं यह भूल गया कि वह एक काबुली मेवावाला है और मैं एक उच्च वंश का बंगाली हूं। तब मैं यह अनुभव करने लगा कि जो वह है वही मैं हूं, वह भी बाप है और मैं भी बाप हूं। उसकी पर्वतवासिनी नन्ही पार्वती के हाथ की निशानी ने ही मेरी मिनी की याद दिला दी। मैंने उसी वक्त मिनी को बाहर बुलवाया। अन्तःपुर में इसपर बड़ी आपत्ति की गई। पर मैंने एक न सुनी। ब्याह की लाल बनारसी साड़ी पहने, माथे पर चन्दन की रेखाएं लिए दुलहिन बनी मिनी लाज से भरी मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

उसे देखकर काबुलीवाला पहले तो सकपका-सा गया—अपनी पुरानी बातचीत न चला सका। अन्त में हंसकर बोला, "खोंखी, तुम ससुराल जाओगी?"

मिनी अब ससुराल शब्द का मतलब समझती है। अब उससे पहले की तरह जवाब देते न बना। रहमान का सवाल सुनकर शर्म से लाल हो, मुंह फेरकर वह खड़ी हो गई। काबुली से मिनी के पहले दिन की मुलाकात मुझे याद आ गई। मन न जाने कैसा व्यथित हो उठा।

मिनी के चले जाने के बाद एक लम्बी सांस लेकर रहमान वहीं जमीन पर बैठ गया। अचानक उसके मन में यह बात साफ हो गई

कि उसकी लड़की भी इस बीच इतनी ही बड़ी हो गई होगी और उसके साथ भी उसे नये ढंग से बातचीत करनी पड़ेगी—उसे फिर से पहले जैसी वह नहीं पाएगा। इन आठ वर्षों में न जाने उसका क्या हुआ होगा। सवेरे के वक्त शरद की उजली कोमल धूप में शहनाई बजने लगी और कलकत्ता की एक गली में बैठा हुआ रहमान अफगानिस्तान के मरुपर्वतों का दृश्य देखने लगा।

मैंने उसे एक नोट निकालकर दिया। कहा, "रहमान, तुम अपने वतन अपनी बेटी के पास चले जाओ। तुम दोनों के मिलन-सुख से मेरी मिनी का कल्याण होगा।"

यह रुपया दान करने के बाद मुझे विवाहोत्सव की दो-चार बातें कम कर देनी पड़ीं। मन में जैसी इच्छा थी, उस तरह रोशनी नहीं कर सका; किले का अंग्रेज़ी बाजा भी नहीं मंगा सका। घर में औरतें बड़ा असन्तोष प्रकट करने लगीं। लेकिन मंगल-ज्योति से मेरा शुभ उत्सव उज्वल हो उठा।

रचनाकाल:
अगहन १२९९ बंगाब्द
सन् १८९२ ई०

२ | पोस्टमास्टर

नौकरी में लगते ही पोस्टमास्टर को ओलापुर गांव में आना पड़ा। गांव बहुत मामूली है। नज़दीक में एक नील की कोठी है। नील की कोठी के साहब ने ही बड़ी कोशिश से यहां नया पोस्ट आफिस कायम कराया है।

हमारे यह पोस्टमास्टर कलकत्ता के रहनेवाले हैं। पानी की मछली को किनारे पर डाल देने से उसकी जैसी दशा हो जाती है, इस वज्र-देहात में आकर पोस्टमास्टर की भी वही दशा हुई। एक अंधियारे अठचाला[1] में उनका दफ्तर है जिसके पास ही एक सेहला-भरा तालाब है और उसके चारों ओर जंगल। कोठी में गुमाश्ता आदि जो कर्मचारी हैं उन्हें किसीसे मिलने-जुलने की फ़ुरसत ही नहीं है और वे किसी शरीफ आदमी से मिलने के काबिल भी नहीं हैं।

खास तौर से कलकत्ता के लड़के मिलनसार भी नहीं होते। किसी अपरिचित स्थान में आकर या तो वे अक्खड़ बन जाते हैं या बिलकुल सुस्त और लजीले। इसी वजह से स्थानीय लोगों से उसका मेल-जोल नहीं हो पाता। इधर हाथ में काम-काज भी कुछ ज़्यादा नहीं है। कभी-कभी दो-एक कविताएं लिखने की वे कोशिश करते हैं। इन कविताओं में वे ऐसा भाव व्यक्त करते हैं मानो दिन-भर तरु-पल्लव का कम्पन और आकाश का मेघ देखकर ही जीवन बड़े सुख से बीता जा रहा हो। लेकिन अन्तर्यामी जानते हैं कि अगर 'अलिफ लैला' का कोई देव आकर इन शाखा-पल्लवों के साथ सारे पेड़ों को काटकर पक्की सड़क बना देता और बड़ी-बड़ी इमारतें आकाश के मेघों को

---

१. आठ छप्परों से बना ग्राम्य-भवन

आंखों से ओट कर रख देता तो इस अधमरे भले आदमी के लड़के को फिर से नवजीवन मिल जाता।

पोस्टमास्टर की तनख्वाह बहुत कम है। खुद खाना पकाकर खाना पड़ता है और गांव की पितृ-मातृहीन अनाथ लड़की उनका काम-काज कर देती है और इसके बदले उसे दो जून कुछ खाने को मिल जाता है। लड़की का नाम है रतन। उम्र बारह-तेरह साल की। ब्याह की कोई विशेष सम्भावना दिखाई नहीं पड़ती।

शाम को, जब गांव की गोशालाओं से घना धुआं कुंडली बना-कर ऊपर उठता, झाड़ियों में झींगुर बोलने लगते, दूर में गांव के नशेबाज़ गवैयों की टोली मृदंग-करताल बजाकर ऊंची आवाज़ में गाना शुरू कर देती—जब अंधेरे चबूतरे पर बैठे-बैठे वृक्षों का कम्पन देखते हुए कवि के हृदय में भी धड़कन होने लगती, तब घर के कोने में एक छोटा-सा दीया जलाकर पोस्टमास्टर पुकारते, "रतन !" रतन दरवाज़े पर बैठी इसी पुकार का इन्तज़ार किया करती थी, लेकिन एक ही पुकार पर भीतर न आती, कहती, "क्या है बाबू, काहे बुलाते हो ?"

पोस्टमास्टर—क्या कर रही है तू ?

रतन—अभी चूल्हा सुलगाने जाना है—चौके में...

पोस्टमास्टर—चौके का काम बाद में होता रहेगा—जा ज़रा तमाखू तो बना ला।

थोड़ी ही देर में दोनों गाल फुलाए चिलम पर फूंकती हुई रतन अन्दर आती।

उसके हाथ से चिलम लेकर पोस्टमास्टर झट पूछ बैठते, "क्यों रतन, तुझे अपनी मां याद आती है ?" वह बड़ा लम्बा किस्सा है। कुछ याद है तो कुछ याद नहीं है। मां से ज़्यादा उसका बाप उसे प्यार करता था। बाप की याद थोड़ी-थोड़ी आती है। मेहनत-मज़दूरी कर शाम को बाप घर लौट आता था, उन्हींमें दो-एक संध्याएं उसके मन पर चित्र की नाईं स्पष्ट अंकित हैं। यही बातें करते-करते रतन पोस्टमास्टर के पैरों के पास ज़मीन पर बैठ जाती। उसे याद आती, उसका एक छोटा भाई था—बहुत दिन पहले, बरसात के एक दिन

गढ़ैया के किनारे दोनों भाई-बहिन मिलकर एक पेड़ की डाली को बंसी बनाकर झूठ-मूठ मछली शिकार करने का खेल खेले थे। बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं से अधिक यही बात उसे ज़्यादा याद आती थी। इसी तरह बातचीत करते-करते कभी-कभी बहुत रात हो जाती और मारे आलस के पोस्टमास्टर को खाना बनाने की इच्छा न होती। सवेरे की बासी भाजी-तरकारी बची रहती, और चूल्हा सुलगाकर रतन दो-चार रोटी सेंक लाती और उसीसे दोनों का रात का खाना हो जाता।

किसी-किसी दिन उस अठपहलू झोंपड़ी के कोने में दफ्तर के लकड़ी के बने तख्त पर बैठकर पोस्टमास्टर भी अपने घर की बात छेड़ देते। छोटे भाई, मां और दीदी की बातें और परदेस में अकेले घर में बैठे-बैठे जिनके लिए हृदय व्यथित हो उठता, उनकी बातें करने लगते। ये बातें हर घड़ी मन में उमड़ती-घुमड़ती रहती थीं पर नील-कोठी के गुमाश्तों से नहीं कही जा सकतीं, वे ही बातें वह एक अनपढ़ छोटी लड़की से कहते चले जाते। उन्हें यह कतई असंगत न लगता। अन्त में ऐसा हुआ कि वह लड़की बातचीत के दौरान में उनके घर के लोगों को मां, दीदी या दादा कहकर ज़िक्र करने लगी, यहां तक कि उसने अपने छोटे-से हृदय-पट पर उनके काल्पनिक चित्र भी बना लिए।

एक दिन बरसात के बादलों से मुक्त दोपहर को कुछ गर्मी लिए सुख देनेवाली हवा चल रही थी। भीगी घास और पेड़-पौधों से, धूप पड़ने के कारण एक तरह की गन्ध निकल रही थी। ऐसा लगता था मानो थकी हुई धरती की गर्म सांस शरीर पर पड़ रही हो और न जाने कहां का एक ज़िद्दी पंछी इस भरी दुपहरी में प्रकृति के दरबार में अपनी सारी एकरस शिकायतें बार-बार बड़े ही करुण स्वर में दुहराता जा रहा था। पोस्टमास्टर के पास कोई काम न था। उस दिन वर्षा से धुले नर्म-चिकने पत्तोंवाले पेड़-पौधों की हिलोरें और पराजित वर्षा की धूप से उजियाले खंडहर जैसे बादलों के स्तूप वास्तव में देखने योग्य थे। पोस्टमास्टर यही देख रहे थे और सोच रहे थे कि काश इस समय अपने पास कोई सगा-अपना होता, हृदय से बिलकुल सटी हुई स्नेहभरी कोई मानव-मूर्ति होती। धीरे-धीरे उसे

ऐसा लगने लगा कि वह पंछी बार-बार इसी बात को दुहरा रहा है और पेड़ों की छांह में डूबी सुनसान दुपहरी की इस पल्लव-मर्मर ध्वनि का भी अर्थ कुछ-कुछ वैसा ही है। कोई विश्वास नहीं करता और जान भी नहीं पाता, लेकिन इस छोटे-से गांव के मामूली तनख्वाह पानेवाले सब-पोस्टमास्टर के मन में ऐसे ही भावों का उदय होना असम्भव नहीं है।

पोस्टमास्टर ने एक लम्बी सांस लेकर पुकारा, "रतन!" रतन उस समय अमरूद के नीचे आराम से बैठी एक कच्चा अमरूद खा रही थी। मालिक की आवाज़ सुनकर फौरन दौड़ती हुई आई और हांफती हुई बोली, "दादा, मुझे बुला रहे हो ?" पोस्टमास्टर ने कहा, "तुझे मैं थोड़ा-थोड़ा पढ़ना सिखाऊंगा।" कहकर सारी दोपहर 'छोटा अ', 'बड़ा आ' सिखाते रहे। और इस तरह थोड़े ही दिनों में उसे 'संयुक्ताक्षर' तक पढ़ा दिया।

सावन में वर्षा का कोई अन्त नहीं। ताल-तलैया नदी-नाले सब पानी से लबालब भर गए थे। दिन-रात मेंढकों की टर्र-टर्र और वर्षा की झम-झम गूंजती रहती थी। गांव के रास्तों पर चलना-फिरना बन्द हो गया था। नाव पर बैठकर हाट जाना पड़ता था।

एक दिन सवेरे खूब बादल छाए हुए थे। पोस्टमास्टर की छात्रा बहुत देर से दरवाज़े के पास प्रतीक्षा में बैठी थी; किन्तु दूसरे दिनों की तरह नियमित पुकार जब बहुत देर तक नहीं सुन पड़ी तो वह अन्त में खुद ही अपनी पोथी और वस्ता लिए कमरे के अन्दर पहुंची। देखा, पोस्टमास्टर अपनी चारपाई पर पड़े हैं। यह सोचकर कि वे आराम कर रहे हैं, उसने चुपके से बाहर निकल जाना चाहा। सहसा उसे सुनाई पड़ा, "रतन!" झट पलटकर वह बोली, "दादा, तुम सो रहे थे न ?" पोस्टमास्टर ने करुण स्वर में कहा, "तबीयत कुछ अच्छी नहीं लग रही है, देख तो ज़रा मेरे माथे पर हाथ रखकर।"

ऐसे निपट निःसंग प्रवास में, घोर वर्षा में बीमार देह ज़रा सेवा पाने की इच्छा करती है। गर्म माथे पर चूड़ियोंवाले नर्म हाथों का स्पर्श याद आ जाता है। इस घोर परदेस में बीमारी के कष्ट से पीड़ित हो ऐसा सोचने का जी करता है कि बगल में स्नेहमयी नारी के रूप में

मां या दीदी बैठी हो। और यहां इस परदेसी की अभिलाषा व्यर्थ न गई। बालिका रतन अब बालिका न रही। उसी क्षण उसने जननी का स्थान ले लिया। वैद्य बुला लाई, वक्त पर दवा की टिकिया खिला दी, रात-भर सिरहाने बैठी जागती रही, खुद ही जाकर पथ्य बना लाई और सौ-सौ बार पूछती रही, "क्यों दादा, कुछ आराम मालूम पड़ता है ?"

बहुत दिनों के बाद पोस्टमास्टर कमज़ोर शरीर लेकर रोग-शय्या से उठे। उन्होंने मन ही मन इरादा कर लिया कि बस, अब और नहीं, यहां से किसी भी तरह तबादला कराना ही है। इस जगह की अस्वास्थ्यकर आबहवा का उल्लेख कर फौरन उन्होंने कलकत्ता के अधिकारियों के पास अर्ज़ी भेज दी।

तीमारदारी से छुट्टी पाकर रतन दरवाज़े के बाहर फिर अपनी जगह पर जा बैठी। लेकिन पहले की तरह उसकी बुलाहट नहीं हुई। बीच-बीच में वह झांककर देखती कि पोस्टमास्टर अनमने से तख्त पर बैठे हैं या चारपाई पर लेटे हुए हैं। रतन जब बुलाहट का प्रतीक्षा में बाहर बैठी रहती थी, तब वे बेचैनी से अपनी दरख्वास्त के जवाब की प्रतीक्षा करते रहते। बालिका दरवाज़े के बाहर बैठी अपना पुराना पाठ हज़ार बार पढ़ती रही। उसे डर था कि जिस दिन अचानक उसकी बुलाहट होगी, उस रोज़ कहीं उसके संयुक्ताक्षरों का पाठ वह भूल गई तो ? अन्त में, हफ्ते-भर के बाद एक दिन शाम को पुकार हुई। व्याकुल हृदय लिए रतन भीतर गई और बोली, "दादा, मुझे बुला रहे थे ?"

पोस्टमास्टर बोले, "रतन, मैं कल ही जा रहा हूं।"

रतन—कहां जा रहे हो दादा ?

पोस्टमास्टर—घर जा रहा हूं।

रतन—फिर कब आओगे ?

पोस्टमास्टर—अब फिर नहीं आऊंगा।

रतन ने फिर कोई बात नहीं पूछी। पोस्टमास्टर ने खुद ही उससे कहा कि उन्होंने बदली के लिए अर्ज़ी दी थी, वह अर्ज़ी मंज़ूर नहीं हुई। इसलिए वे नौकरी से इस्तीफा देकर घर जा रहे हैं। बहुत

देर तक कोई कुछ भी न बोला। दीया टिमटिमाता रहा और एक जगह मढ़ैया की पुरानी छाजन से चूकर एक मिट्टी के सकोरे में टप-टप्र बारिश का पानी टपकता रहा।

कुछ देर बाद रतन धीरे से उठकर रसोई में रोटी सेंकने चली गई। दूसरे दिनों की तरह उसमें फुर्ती न थी। शायद बीच-बीच में बहुत-सी चिन्ताएं उसे आ घेरती थीं। पोस्टमास्टर का भोजन समाप्त होने पर, बालिका यकायक पूछ बैठी, "दादा, मुझे अपने घर ले चलोगे ?"

पोस्टमास्टर ने हंसकर कहा, "सो कैसे हो सकता है ?" किन-किन कारणों से वे उसे नहीं ले जा सकते, यह खोलकर बालिका को बताने की ज़रूरत उन्होंने न समझी।

रात-भर, जागते हुए या सपने में बालिका के कानों में पोस्ट-मास्टर की वह हंसी गूंजती रही, "सो कैसे हो सकता है ?"

सवेरे उठकर पोस्टमास्टर ने देखा कि उनके नहाने का पानी तैयार है। कलकत्ता की आदत के अनुसार वे बाल्टी में भरे हुए पानी से नहाते थे। कब किस वक्त वे जाएंगे, यह बात वह बालिका किसी कारण न पूछ सकी थी, इसलिए, कहीं भोर-सवेरे ही ज़रूरत न पड़ जाए, यह सोचकर रतन रात रहते ही नदी से पानी भर ले आई थी। स्नान के बाद रतन की पुकार हुई। रतन चुपचाप घर के भीतर गई और आज्ञा की प्रतीक्षा में उसने एक बार मालिक के मुंह की ओर खामोश होकर देखा। मालिक ने कहा, "रतन, मेरी जगह पर जो बाबू आएंगे उन्हें मैं बता जाऊंगा कि वे तुझे मेरी ही तरह जतन से रखेंगे। मैं जा रहा हूं इसलिए फिक्र मत कर।" इसमें सन्देह नहीं कि ये बातें अत्यन्त स्नेह-भरे और करुण हृदय से निकली थीं, लेकिन नारी-हृदय को कौन समझ सकता है ? रतन ने बहुत दिन तक मालिक की बहुत डांट-फटकार सही है, लेकिन ये कोमल बातें उससे नहीं सही गईं। सहसा वह फफक-फफककर रोने लगी, बोली, "नहीं, नहीं, तुम्हें किसीसे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है, मैं भी नहीं रहना चाहती हूं।"

पोस्टमास्टर ने रतन का ऐसा आचरण कभी नहीं देखा था इस-

लिए विस्मित रह गए।

नया पोस्टमास्टर आया। उसे सब बातें समझाकर पुराने पोस्ट-मास्टर चलने की तैयारी करने लगे। जाते वक्त रतन को बुलाकर कहा, "रतन, मैं तुझे कभी कुछ दे नहीं सका हूं। आज जाते वक्त तुझे कुछ दिए जा रहा हूं, इससे तेरे कुछ दिनों का काम चल जाएगा।"

अपने राह-खर्च के लिए कुछ रुपये निकालकर तनख्वाह के जितने रुपये थे, जेब से सब निकालकर वे उसे देने लगे। रतन धूल में लोट पड़ी और उनके पैर पकड़कर बोली, "दादा, तुम्हारे पांव पड़ती हूं, पांव पड़ती हूं, मुझे कुछ देने की ज़रूरत नहीं। तुम्हारे पांव पड़ती हूं, मेरे लिए किसीको कुछ सोच करने की ज़रूरत नहीं।" इतना कहकर वह वहां से दौड़कर भाग गई।

भूतपूर्व पोस्टमास्टर ने एक गहरी सांस ली। फिर कार्पेट का बैग लटकाए, कंधे पर छतरी रखे, मज़दूर के सिर पर नीले और सफेद रंग से चित्रित टीन का बक्सा रखवाकर वे धीरे-धीरे घाट की ओर चल दिए।

जब वे नाव पर सवार हुए और नाव छूट गई, वर्षा से फैली हुई नदी धरती के आवेश से निकले आंसुओं की नाईं चारों ओर झिलमिलाने लगी, तब हृदय में वे एक गहरी टीस का अनुभव करने लगे। एक मामूली गंवई लड़की का करुण मुखड़ा मानो एक विश्व-व्यापी वृहद् अव्यक्त मर्म-व्यथा बनकर उनके हृदय को व्यथित करने लगा। एक बार बड़ी इच्छा हुई कि 'लौट जाऊं, संसार की गोद से छिटकी हुई उस अनाथ बालिका को साथ लेता आऊं'—लेकिन तब तक बादवान में हवा भर चुकी थी, वर्षा का प्रवाह वेग से बह रहा था, गांव पार कर नदी-किनारे श्मशान दिखाई दे रहा था और वर्षा-प्रवाह पर बहते हुए पथिक के उदास हृदय में इस सत्य का उदय हो रहा था, 'जीवन में ऐसी बिछुड़नें कितनी ही और आएंगी, कितनी ही मौतें आती रहेंगी, इसलिए लौटने से क्या फायदा? दुनिया में कौन किसका है?'

किन्तु रतन के मन में किसी भी सत्य का उदय नहीं हुआ। वह उस पोस्ट आफिस गृह के चारों ओर केवल आंसू ढरकाती चक्कर लगा रही थी। शायद उसके मन में क्षीण आशा जाग रही थी कि

दादा शायद लौट आवें, और इस बन्धन में फंसी वह किसी तरह भी कहीं दूर नहीं जा सकती थी। हाय रे बुद्धिशून्य मानव-हृदय! भ्रान्ति किसी तरह से भी मिटती नहीं। युक्तिशास्त्र का विधान बहुत देर में मन में बैठता है। प्रबल प्रमाण का भी अविश्वास कर, झूठी आशा को दोनों बांहों में लपेटकर अपनी छाती से चिपकाए रखा जाए तो वह अन्त में एक दिन सारी नाड़ियों को काटकर हृदय का खून चूसकर भाग जाती है और तभी चेतना आती है। चेतना आने के बाद भी दूसरे भ्रान्तिजाल में फंसने के लिए उसका चित्त व्याकुल होता रहता है।

रचनाकाल :

१२९८ बंगाब्द

सन् १८९१ ई०

४ पड़ोसिन
(प्रतिवेशिनी)

मेरी पड़ोसिन बाल-विधवा है। वह मानो शरद् ऋतु की ओस से भीगा वृन्त-च्युत हरसिंगार हो। सुहाग-रात की फूलों की सेज के लिए नहीं, वह केवल देव-पूजा के लिए ही उत्सर्गित थी।

मैं उसकी पूजा मन ही मन किया करता था। उसके प्रति मेरा मनोभाव कैसा था, उसे मैं पूजा के अतिरिक्त किसी अन्य सुबोध शब्दों में प्रकट करना नहीं चाहता—दूसरों के सामने कदापि नहीं, अपने प्रति भी नहीं।

नवीन माधव मेरा बहुत ही घनिष्ठ एवं प्रिय मित्र है। उसे भी इस बारे में कुछ मालूम नहीं। और इस प्रकार मैंने अपने अन्तरतम में जिस आवेश को छिपाकर निर्मल बना रखा था उसके लिए भीतर ही भीतर गर्व का अनुभव भी करता था।

किन्तु पहाड़ी नदी की नाईं मन का वेग अपने जन्म-शिखर से बंधा नहीं रहना चाहता। किसी भी रास्ते को अपनाकर वह बाहर निकलने की कोशिश करता है। और इसमें अगर वह सफल नहीं हो पाता तो भीतर ही भीतर वेदना को उत्पन्न करता रहता है। इस-लिए मैं यह सोच रहा था कि कविता में मैं अपने भाव प्रकट करूंगा। लेकिन कुण्ठा की मारी लेखनी ने किसी तरह से भी आगे बढ़ना न चाहा।

बड़े आश्चर्य का विषय तो यह है कि ठीक इसी समय हमारे मित्र नवीन माधव को अचानक ही प्रबल वेग से कविता लिखने का शौक बढ़ने लगा, मानो अचानक भूडोल आ गया हो।

उस बेचारे पर ऐसी दैवी विपत्ति पहले कभी न आई थी, इस

कारण वह इस नई-नवेली हलचल के लिए बिलकुल तैयार न था। उसके पास छन्द, तुक आदि की पूंजी नहीं थी फिर भी उसका दिल छोटा न हुआ, यह देखकर मैं दंग रह गया। कविता मानो बुढ़ापे की नई दुलहिन की तरह उसपर हावी हो गई। नवीन माधव को छन्द, तुक आदि की सहायता और संशोधन के लिए मेरी शरण लेनी पड़ी।

कविता के विषय नये नहीं थे लेकिन पुराने भी नहीं थे। यानी उन्हें चिरनवीन भी कहा जा सकता है और चिरपुरातन भी। प्रेम की कविताएं थीं प्रियतमा के उद्देश्य में। मैंने उसे एक धक्का लगाते हुए पूछा, "आखिर है कौन, बताओ भी।"

नवीन ने हंसकर कहा, "अब भी उनका पता नहीं लगा पाया हूं।"

नवीन लेखक को सहयोग देने में मुझे बड़ा सन्तोष मिला। नवीन की काल्पनिक प्रियतमा के प्रति मैंने अपने रुद्ध आवेग का प्रयोग किया। बिना बच्चे की मुर्गी जिस तरह बत्तख बड़ा अंडा पा जाने पर भी उसे छाती के नीचे रखकर सेने लगती है, मैं अभागा भी उसी तरह नवीन माधव के भावों को अपने हृदय का सारा उत्ताप देकर सेने लग गया। अनाड़ी की रचनाओं का मैं ऐसे जोश-खरोश से संशोधन करने लगा कि वे करीब-करीब पन्द्रह आने मेरी ही रचनाएं बन गईं।

नवीन आश्चर्य से कहता, "ठीक यही बात तो मैं कहना चाहता था पर कह नहीं पाता था। लेकिन तुममें ये सब भाव कहां से आ जाते हैं?"

मैं भी कवि की तरह जवाब देता, "कल्पना से। इसका कारण यह है कि सत्य नीरव होता है और कल्पना वाचाल होती है। सत्य घटनाएं भावस्रोत को पत्थर की भांति दबा रखती हैं, कल्पना ही उसका मार्ग मुक्त कर देती है।"

नवीन गम्भीर चेहरा लिए कुछ देर सोचता, फिर कहता, "देख रहा हूं बात कुछ ऐसी ही है। ठीक ही कहते हो।" थोड़ी देर सोचने के बाद फिर कहता, "ठीक ही कहते हो। सही बात है।"

पहले ही बता चुका हूं कि मेरे प्रेम में एक प्रकार का कातर संकोच है इसीलिए मैं अपनी जवानी कुछ भी लिख नहीं सका। नवीन को पर्दे की तरह बीच में रखने के बाद ही मेरी लेखनी अपना मुंह खोल सकी है। रचनाएं मानो रस से पूर्ण हो उत्ताप से फटने लगीं।

नवीन बोला, "यह तो तुम्हारी ही रचना है। इसे तुम्हारे नाम से ही प्रकाशित करें।"

मैंने कहा, "भाई, तुमने भी खूब कहा। मूल रचना तो तुम्हारी ही है, मैंने उसमें सिर्फ थोड़ा-सा रद्दोबदल कर दिया है।"

धीरे-धीरे नवीन भी ऐसा ही समझने लगा।

ज्योतिर्विद जिस प्रकार नक्षत्रोदय की प्रतीक्षा में आकाश की ओर निहारा करता है, मैं भी उसी तरह कभी-कभी अपने बगल के मकान की खिड़की की ओर देखा करता था—इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता। कभी-कभी भक्त का वह व्याकुल दृष्टिपात सार्थक भी हो जाता। उस कर्मयोगरता ब्रह्मचारिणी की सौम्य मुखश्री से शान्तस्निग्ध ज्योति प्रतिबिम्बित हो क्षण-भर में मेरे सारे चित्त-क्षोभ को दूर कर देती थी।

किन्तु उस दिन सहसा मैंने यह क्या देखा! मेरे चन्द्रलोक में क्या अब भी ज्वालामुखी जाग रहा है, वहां के जनशून्य समाधि-मग्न गिरि-गह्वर का सारा अग्नि-दाह क्या अभी तक सम्पूर्ण रूप से बुझा नहीं है?

उस दिन वैशाख के तिपहर को पूर्वोत्तर दिशा में बादल घिर रहे थे। उस आसन्न आंधी की मेघ-मंडित रुद्र-दीप्ति में मेरी पड़ोसिन खिड़की के पास अकेली खड़ी थी। उस दिन उसकी शून्य में निमग्न घनी काली आंखों में मैंने दूर तक फैली हुई एक वेदना देखी।

तो है,—मेरे उस चन्द्रलोक में अब भी उत्ताप है। अब भी वहां गर्म सांसों का पवन बहता है। वह देवताओं के लिए नहीं, मनुष्य के लिए ही है।

उस दिन उस आंधी के प्रकाश में, उसकी दोनों आंखों की विशाल व्याकुलता, व्यग्र पक्षी की नाईं उड़ी चली जा रही थी। स्वर्ग की ओर नहीं, मानव-हृदय के नीड़ की ओर।

उत्सुक आकांक्षा से दीप्त उस दृष्टि को देखने के बाद मेरे लिए

अपने अशान्त चित्त को काबू रखना मुश्किल हो गया। तब फिर केवल दूसरे की कच्ची अनगढ़ कविताओं के संशोधन से मन नहीं भरा, मेरे अन्दर भी किसी प्रकार का काम करने की चंचलता पैदा हो गई।

तब मैंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि बंगाल में भी विधवा-विवाह प्रचलित करने के लिए मैं अपनी सारी प्रचेष्टा का प्रयोग करूंगा । केवल व्याख्यान और लेख लिखकर ही नहीं, आर्थिक सहायता देने के लिए भी मैं आगे बढ़ा।

नवीन मेरे साथ बहस करने लगा। उसने कहा, "चिर-वैधव्य में एक पवित्र शान्ति है, एकादशी की धुंधली चांदनी से प्रकाशित समाधि-भूमि की तरह उसमें एक महान रमणीयता है। क्या वह विवाह की संभावना-मात्र से नष्ट नहीं हो जाएगी ?"

ऐसी कवित्व की बातें सुनते ही मुझे गुस्सा आ जाता है। अकाल में खाने के अभाव से जो व्यक्ति घुल-घुलकर मर रहा हो, उसके पास भोजन से हट्टा-कट्टा कोई व्यक्ति आकर यदि भोजन की भौतिकता के प्रति घृणा प्रकट करता हुआ फूल की सुगन्ध और पक्षियों के गीत से उस मुमूर्षु का पेट भरना चाहे तो वह कैसा लगता है ?

मैंने गुस्से में आकर कहा, "सुनो नवीन, कलाकार कहते हैं कि खंडहर का भी एक सौन्दर्य होता है। लेकिन किसी घर को केवल चित्र के रूप में देखने से ही काम नहीं चलता, चूंकि उस घर में रहना पड़ता है, कलाकार कुछ भी कहता रहे, उस घर की मरम्मत ज़रूरी है। वैधव्य के बारे में, दूर बैठकर तुम चाहे कितनी ही कविताएं लिखना चाहो, किन्तु यह तुम्हें याद रखना चाहिए कि उसमें आकांक्षाओं से भरा एक मानव-हृदय अपनी विचित्र वेदना लिए वास करता ।"

मेरा ख्याल था कि नवीन को मैं किसी भी तरह अपने दल में नहीं खींच सकूंगा, इसीलिए उस दिन कुछ ज़्यादा गर्मी के साथ मैं बातें कर रहा था। लेकिन सहसा मैंने देखा कि मेरे भाषण के अन्त में उसने एक गहरी सांस ली और मेरी सारी बातें मान लीं। मुझे और भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें करनी थीं पर उसने उसका मौका ही नहीं दिया।

लगभग हफ्ते-भर के बाद नवीन ने आकर कहा, "तुम अगर मदद करो तो मैं खुद विधवा-विवाह करने को तैयार हूं।"

मेरी समझ में यह बात आ गई कि उसकी प्रियतमा काल्पनिक नहीं है। कुछ अरसे से वह एक विधवा नारी को दूर से प्यार करता रहा है, पर किसीसे उसने यह प्रकट नहीं किया। जिस मासिक पत्र में नवीन की, उर्फ मेरी कविताएं प्रकाशित होती थीं, वे पत्रिकाएं ठीक जगह पर पहुंच जाया करती थीं। वे कविताएं व्यर्थ नहीं गईं। बिना मेल-मुलाकात किए ही हृदय आकर्षित करने का यह उपाय मेरे मित्र ने ढूंढ़ निकाला था।

लेकिन नवीन का कहना है कि उसने कोई षड्यंत्र कर ऐसी तरकीब निकाली हो, सो बात नहीं। यहां तक कि उसका ख्याल था कि वह विधवा पढ़ना भी नहीं जानती। मासिक पत्रिका बिना मूल्य विधवा के भाई के नाम वह भिजवा देता था। वह केवल मन को तसल्ली-भर देने का पागलपन था। उसे ऐसा लगता था कि देवता के लिए पुष्पांजलि चढ़ाई जा रही है; वे जानें या न जानें, स्वीकार करें या न स्वीकार करें।

कई बहानों के जरिये विधवा के भाई से नवीन ने मित्रता कर ली थी। नवीन का कहना है कि इसमें भी उसका कोई उद्देश्य न था। जिससे प्रेम किया जाए उसके निकट-सम्बन्धियों का संग भी मधुर लगता है।

अन्त में भाई सख्त बीमार पड़ा तो इस सिलसिले में बहिन के साथ उसकी भेंट कैसे हुई—वह एक लम्बी कथा है। कवि के साथ कविता में वर्णित विषय का प्रत्यक्ष परिचय हो जाने के बाद कविता के सम्बन्ध में दोनों में बड़ी चर्चा हो चुकी थी। और यह चर्चा छपी हुई कविताओं में ही सीमित थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

हाल में मुझसे बहस में हारकर नवीन ने उस विधवा से मिलकर उससे विवाह का प्रस्ताव किया है। पहले-पहल उसे किसी प्रकार से भी सम्मति न मिली। तब नवीन ने मेरी सारी युक्तियों का प्रयोग कर और उसके साथ अपनी आंखों के दो-चार बूंद आंसू मिलाकर उसे सम्पूर्ण रूप से हरा दिया है। अब सब कुछ तय है, केवल विधवा के

अभिभावक यानी उसके फूफा कुछ रुपया चाहते हैं।

मैंने कहा, "अभी लो।"

नवीन बोला, "इसके अलावा एक बात और है। शादी के बाद पिताजी पांच-छः महीने तक जरूर खर्चा देना बन्द कर देंगे और तब तक दोनों का खर्च निभाने के लिए तुम्हें इन्तज़ाम करना होगा।" मैंने मुंह से कुछ न कहकर एक चैक काट दिया और कहा, "अब उसका नाम तो बताओ। मेरे साथ जब तुम्हारी कोई प्रतियोगिता नहीं तो परिचय देने में तुम्हें किस बात का डर है? मैं तुम्हें छूकर सौगन्ध खाता हूं कि उनके नाम कोई कविता नहीं लिखूंगा—और अगर लिखूं भी तो उनके भाई के पास न भेजकर तुम्हारे पास भेज दिया करूंगा।"

नवीन ने कहा, "अरे, इसके लिए मुझे कोई डर नहीं। विधवा-विवाह की लाज से वह गड़ी जा रही है इसलिए उसने तुम लोगों से इस बारे में कोई चर्चा करने को बार-बार मना कर दिया है। पर अब छिपाना बेकार है। वह तुम्हारी ही पड़ोसिन है, उन्नीस नम्बर में रहती है।"

अगर मेरा हृद्पिंड लोहे का बायलर होता तो उसी क्षण धक् से फट जाता। मैंने पूछा, "विधवा-विवाह से उसे कोई एतराज़ नहीं है?"

नवीन ने हंसकर कहा, "फिलहाल तो कोई एतराज़ नहीं है।"

मैंने पूछा, "सिर्फ कविताएं पढ़कर ही वह मुग्ध हो गई?"

नवीन ने कहा, "क्यों, मेरी वे कविताएं कुछ बुरी तो थीं नहीं।"

मैंने मन ही मन कहा, 'धिक्कार है।'

धिक्कार किसे? उन्हें, मुझे या विधाता को? लेकिन धिक्कार है।

रचनाकाल :
सन् १९०१ ई०

५ | छुट्टी

बालकों के सरदार फटिक चक्रवर्ती के दिमाग में झट एक नई लहर दौड़ गई। नदी के किनारे एक बहुत बड़ा साखू का लट्ठा मस्तूल बनने की प्रतीक्षा में पड़ा था। यह तय हुआ कि उसे सब लड़के मिलकर लुढ़काकर ले चलें।

जिस आदमी की लकड़ी है, ज़रूरत के वक्त उसे कितना आश्चर्य होगा, झुंझलाहट होगी और परेशानी होगी, इसको विचारकर लड़कों ने सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

कमर बांधकर सभी लोग जब इस काम में लगने को तैयार हो रहे थे तब फटिक का सबसे छोटा भाई माखनलाल बड़ी गम्भीरता से उस लट्ठे पर जाकर बैठ गया। लड़के उसकी यह उदार उदासीनता देखकर कुछ दुखित हो गए।

एक ने आकर डरते-डरते उसे तनिक धकेला भी, पर वह ज़रा भी विचलित न हुआ। वह असमय-तत्वज्ञानी मानव सभी प्रकार के खेलकूदों की सारशून्यता के बारे में चुपचाप बैठा चिन्तन करता रहा।

फटिक ने आकर रोब जताकर घुड़की लगाई, "सुन, मार खा जाएगा, वरना उठ झटपट।"

इसपर वह और भी ज़रा हिल-डुलकर स्थायी रूप से उस आसन पर जमकर बैठ गया।

ऐसी दशा में, सर्वसाधारण के सामने अपने नेता-सम्मान की रक्षा के लिए फटिक का कर्तव्य था कि वह अपने ढीठ भाई के गाल पर एक तमाचा जड़ दे; पर उसे हिम्मत न पड़ी। फिर उसने ऐसा मुंह बनाया मानो वह चाहे तो उसे अभी दुरुस्त कर दे, लेकिन नहीं

करेगा क्योंकि पहले से भी और बढ़िया खेल उसके दिमाग में आया है और वह ज्यादा मजेदार खेल है। उसने प्रस्ताव किया कि माखन-समेत उस लट्ठे को लुढ़काया जाए।

माखन ने सोचा, इसमें उसका गौरव ही है, किन्तु अन्य पार्थिव गौरवों की तरह इसके संग चलनेवाली विपत्तियों की भी कोई सम्भावना है यह बात उसके या और किसीके भी ख्याल में नहीं आई।

लड़कों ने कमर बांधकर लुढ़काना शुरू किया—"मारो ठेला हे-इ-ओ, शाबाश जवान हे-इ-यो।" लट्ठा एक चक्कर घूम भी न पाया कि माखन अपने गाम्भीर्य, गौरव और तत्वज्ञान-समेत धरती पर आ गया।

खेल के आरम्भ में ही ऐसा आशातीत फल पाकर दूसरे लड़के बहुत खुश हो उठे, लेकिन फटिक कुछ घबरा-सा गया। माखन झट अपनी भूमि-शय्या छोड़ फटिक पर टूट पड़ा और अन्धे की तरह ताबड़-तोड़ मारने लगा। उसका नाक-मुंह नोच-खसोटकर रोते-रोते घर की ओर चला गया। खेल उखड़ गया।

चन्द कांस उखाड़कर उसे हाथ में लिए एक अधडूबी नाव की गलही पर जाकर फटिक बैठ गया और चुपचाप बैठा-बैठा कांस की जड़ चबाने लगा।

इतने में एक परदेसी नाव आकर घाट पर लगी। उसमें से खिचड़ी मूंछें और पके बाल लिए एक अधेड़ सज्जन उतर आए। उन्होंने बालक से पूछा, "चक्रवर्तियों का घर कहां है बच्चा?"

लड़के ने कांस चबाते हुए कहा, "वो उधर।" लेकिन किस ओर उसने इशारा किया, कोई समझ न सका।

सज्जन ने फिर पूछा, "किधर?"

उसने कहा, "मालूम नहीं।" इतना कहकर पहले की तरह वह घास की जड़ से रस ग्रहण करने लगा। वे बाबू तब दूसरे लोगों की सहायता लेकर चक्रवर्तियों के घर की तलाश में चले।

थोड़ी ही देर में बाघा बाग्दी ने आकर कहा, "फटिक भैया, मांजी बुला रही हैं।"

फटिक ने कहा, "नहीं जाऊंगा।"

बाघा ने उसे ज़बरदस्ती गोद में उठा लिया और फटिक मारे खीझ के व्यर्थ ही हाथ-पैर पटकता रहा।

फटिक को देखते ही मां आग-बबूला-सी हो गई, बोली, "फ़िर तूने माखन को मारा है।"

फटिक ने कहा, "नहीं, मैंने नहीं मारा।"

"फिर झूठ बकता है।"

"कभी नहीं मारा। माखन से पूछो।"

माखन से पूछते ही उसने पहले की हुई शिकायत का समर्थन करते हुए कहा, "हां, मारा है।"

अब फटिक से न सहा गया। तेज़ी से लपककर उसने माखन के गाल पर एक तमाचा जड़ दिया, और कहा, "फिर झूठ।"

मां ने माखन का पक्ष लेकर फटिक को ज़ोर से झकझोर डाला और उसकी पीठ पर दो-तीन थप्पड़ लगा दिए। फटिक ने मां को ढकेल दिया।

मां ने चिल्लाकर कहा, "अयं, तू मेरे बदन पर हाथ उठाता है।"

ऐसे ही समय वे अधेड़ सज्जन घर में आकर बोले, "क्या हो रहा है तुम लोगों में ?"

फटिक की मां विस्मय और आनन्द से विह्वल हो बोल पड़ी, "अरे! यह तो दादा आ गए। कब आए दादा ?" कहकर उन्होंने भाई को प्रणाम किया।

बहुत दिन हुए दादा नौकरी करने पछांह गए थे। इस बीच फटिक की मां के दो बच्चे हुए थे, वे बच्चे काफी बड़े हो गए थे। उनके पति का देहान्त हो गया था; लेकिन दादा एक बार भी अपनी बहिन से मिलने नहीं आए। आज बहुत दिनों के बाद छुट्टी पाकर विश्वम्भर बाबू अपनी बहिन से मिलने आए हैं।

कुछ दिन बड़े समारोह से बीते। अन्त में विदा होने के दो-एक दिन पहले विश्वम्भर बाबू ने अपनी बहिन से बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और उनके मानसिक विकास के बारे में पूछा। जवाब में उन्हें सुनने को मिला कि फटिक कहना नहीं मानता, नटखट और शैतान है, पढ़ने में ध्यान नहीं देता और माखन शान्त और सुशील है और पढ़ने-

लिखने में भी तेज़ है।

उनकी बहिन ने कहा, "फटिक के मारे तंग आ गई हूं।"

सुनकर विश्वम्भर बाबू ने प्रस्ताव रखा कि वे फटिक को कलकत्ता ले जाएंगे और अपने पास रखकर उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करेंगे। विधवा इस प्रस्ताव पर अनायास ही राज़ी हो गई।

उन्होंने फटिक से पूछा, "क्यों रे फटिक, मामा के साथ कलकत्ता जाएगा?"

फटिक ने उछलकर कहा, "जाऊंगा।"

हालांकि फटिक को बिदा करने में उसकी मां को कोई आपत्ति न थी, क्योंकि उसको सदा यह डर बना रहता था कि किसी न किसी दिन वह माखन को पानी में न ढकेल दे या सिर ही न फोड़ दे या और कोई दुर्घटना न कर बैठे। फिर भी फटिक के चले जाने का ऐसा आग्रह देखकर उसका मन पीड़ा से भर उठा।

और फटिक ने 'मामा कब जाओगे, किस वक्त रवाना होगे' पूछते-पूछते मामा को तंग कर डाला। मारे खुशी के उसे रात को नींद नहीं आई।

अन्त में रवाना होते वक्त खुशी की उदारता से वह अपनी बंसी, पतंग और चर्खी माखन को पुश्त-दर-पुश्त भोग करने का पूरा अधिकार देते हुए सौंप गया।

कलकत्ता में ननिहाल पहुंचकर सबसे पहले मामी से भेंट हुई। अपने परिवार की अनावश्यक संख्यावृद्धि से मामी खुश हुई थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अपने तीन लड़कों को लेकर अपनी रुचि के अनुसार गृहस्थी चला रही थी, सहसा इसके बीच एक तेरह साल के अपरिचित, अशिक्षित देहाती लड़के को छोड़ देने से घर में एक विप्लव की संभावना-सी हो जाती है। विश्वम्भर की अवस्था इतनी हो चुकी है फिर भी उसे तनिक भी अक्ल न आई।

खास तौर से तेरह-चौदह साल के लड़के के समान संसार में दूसरी कोई बला ही नहीं है। न तो वह घर की शोभा है और न वह घर के किसी काम में आता है। न तो उसे देखकर स्नेह ही उभड़ता

है और न उसकी सोहबत ही किसीके लिए सुखकर होती है। उसके मुंह से अर्धस्फुट तोतली वोली निकले तो लोग समझेंगे कि वह वन रहा है, साफ-साफ स्पष्ट वातें करने लगे तो लोग कहेंगे कि वह वुजुर्गों की नकल करता है और उसका वात करना ही ढिठाई है। अचानक कपड़ों-लत्तों के नाप का कुछ भी ख्याल न कर बड़े ही भद्दे ढंग से उसका वढ़ते जाना भी लोगों की निगाह में एक वाहियात उद्दंडता-सी लगती है। उसके वचपन की कोमलता और कंठ की मिठास यदि नहीं बनी रहती है तो लोग इसके लिए उसीको अपराधी वनाए बिना नहीं रह सकते। बचपन और जवानी के बहुत-से दोष माफ किए जा सकते हैं, किन्तु इस अवस्था का कोई स्वाभाविक सहज दोष भी असहनीय-सा लगता है।

और वह खुद भी मन ही मन समझने लगता है कि दुनिया में कहीं पर भी किसीसे उसकी पटरी नहीं बैठ रही है और इस कारण अपने अस्तित्व के वारे में वह सदा लज्जित और क्षमाप्रार्थी बना रहता है। हालांकि इसी उम्र में स्नेह पाने के लिए मन में तनिक अधिक व्याकुलता होती है। इस समय अगर वह किसी सहृदय व्यक्ति से स्नेह-प्यार, लाड़-दुलार या साहचर्य पा जाए तो उसके निकट वह विक-सा जाता है। किन्तु उससे कोई लाड़-प्यार करने का साहस भी नहीं करता क्योंकि आम लोगों की निगाह में वह सिर चढ़ाने के समान समझा जाता है। इसलिए उसका रूप-रंग और हाव-भाव कुछ-कुछ बिन-मालिक के राह के कुत्ते जैसा हो जाता है।

इसलिए, ऐसी दशा में, मां के घर के सिवा कोई भी अनजान जगह बालक के लिए नरक के समान होती है। चारों ओर का स्नेह-शून्य अनचाहापन उसके पग-पग पर कांटों की तरह चुभता रहता है। आम तौर से इस उम्र में नारी-जाति किसी एक श्रेष्ठ स्वर्ग-लोक की दुर्लभ प्राणी-सी लगती है और इसीलिए किसी नारी से उपेक्षा का होना उसके लिए बड़ा ही असहनीय हो जाता है।

फटिक को सबसे ज़्यादा यह बात अखरने लगी कि वह मामी की स्नेहशून्य आंखों में किसी अशुभ ग्रह-सा खटकने लगा है। कभी-कभी अगर मामी उससे किसी काम के लिए कहती, तो वह मारे खुशी के

फूला नहीं समाता और उस खुशी के मारे वह ज़रूरत से ज़्यादा काम कर डालता था। अन्त में जब मामी उसके उत्साह को कुचलती हुई कहती, "बस, अब रहने दो, काफी हो गया है। अब जाकर अपने काम में ध्यान दो। जाओ, पढ़ो-लिखो।" —तब उसे अपनी मानसिक उन्नति के प्रति मामी का इतना अधिक ख्याल कठोर निर्दयी अन्याय-सा लगने लगता।

घर में ऐसा अनादर था और बाहर भी सांस लेने की कोई जगह न थी। चारों ओर दीवारों से घिरे रहते-रहते उसे बार-बार केवल अपना गांव ही याद आने लगता।

बहुत बड़ी-सी पतंग को उड़ाने के लिए वह बड़ा-सा मैदान, अपने बनाए हुए अर्थहीन गीत को मनमाने राग में अलापते हुए उद्देश्यहीन भटकने के लिए वह नदी का तट, दिन में जब जी में आया तब कूदकर तैरने के लिए वह संकरी-सी नदी, अपना वह लड़कों का गिरोह, ऊधम और आज़ादी सब कुछ उसे आकर्षित करते थे। किन्तु सबसे बढ़कर वह अत्याचारी-अन्यायी मां उसके बेबस मन को दिन-रात अपनी ओर आकर्षित करती रहती थी।

पशुओं-सा एक सहज प्रेम, सिर्फ निकट जाने की एक अन्ध-प्रवृत्ति, केवल एक अनदेखे के लिए अव्यक्त व्याकुलता, गोधूली के समय मां से बिछुड़े बछड़े की तरह एक हृदय से निकला हुआ मां-मां पुकारता हुआ मौन क्रन्दन—यही सब उस लज्जित, शंकित, दुबले, लम्बे, बदसूरत बालक के हृदय में केवल उमड़ते ही रहते थे।

स्कूल में इतना मूर्ख और पढ़ने से जी चुरानेवाला कोई दूसरा लड़का नहीं था। कोई भी बात पूछने पर वह मुंह बाए खड़ा रहता था। मास्टर जब मारना शुरू करते, तो वह बोझ से लदे थके गधे की तरह चुपचाप सब सह लेता। लड़कों को जब खेलने की छुट्टी मिलती, तब वह खिड़की के पास खड़ा-खड़ा दूर के मकानों की छतों को देखा करता था। जब दोपहर की उस धूप में किसी मकान की छत पर दो-एक लड़के-लड़कियां खेल के बहाने दिखाई पड़ जाते, तो उसका दिल बेचैन हो उठता था।

एक दिन उसने मन में दृढ़ निश्चय कर बड़ी ही हिम्मत बांध-

कर मामा से पूछा था, "मामा, मां के पास कब जाऊंगा ?" मामा ने कहा था, "स्कूल में छुट्टी होने दो। कातिक में दुर्गापूजा की छुट्टी होगी। अभी तो बहुत दिन हैं।"

एक दिन फटिक से स्कूल की किताबें खो गईं। एक तो योंही पाठ याद नहीं होता, तिसपर किताबें खोकर वह एकदम असहाय-सा हो गया। मास्टर साहब रोज़ उसे बेधड़क मारने-पीटने और उसकी बेइज़्ज़ती करने लगे। स्कूल में उसकी ऐसी दशा हुई कि उसके ममेरे भाई भी उसके साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करने में लज्जा का अनुभव करने लगे। फटिक की किसी भी बेइज़्ज़ती पर वे दूसरे लड़कों से अधिक दिखा-दिखाकर अपनी खुशी ज़ाहिर करते थे।

जब उससे आगे और न सहा गया तो एक दिन अपराधी-सा बना अपनी मामी के सामने जाकर उसने कहा, "मेरी किताबें खो गई हैं।"

मामी ने होंठों के छोर पर गुस्से की रेखा अंकित करते हुए कहा, "अच्छा ही किया है। मैं तुम्हारे लिए महीने में पांच-पांच बार किताबें नहीं खरीदवा सकती।"

फटिक बिना कुछ कहे चुपचाप लौट आया। वह दूसरों का पैसा बर्बाद कर रहा है, यह ख्याल कर वह अपनी मां पर बहुत कुपित हो उठा। अपनी हीनता और दीनता से वह मिट्टी में गड़-सा गया।

स्कूल से लौटकर उसी दिन रात को उसका सिर दुखने लगा और बदन सुरसुराने लगा। वह समझ गया कि उसे बुखार चढ़ रहा है। साथ ही वह यह अनुभव करने लगा कि बीमार हो जाने पर मामी के लिए वह एक फालतू और व्यर्थ आफत बन जाएगा। वह अनुभव कर रहा था कि मामी इस बीमारी को किस प्रकार अनावश्यक उपद्रव के रूप में देखेगी। बीमारी के समय ऐसे निकम्मे-बुद्धू बालक को दुनिया में अपनी मां के सिवा किसी और से सेवा मिल सकती है, यह सोचते हुए भी उसे शर्म आने लगी।

अगले दिन सवेरे फटिक फिर कहीं दिखाई न पड़ा। चारों ओर पड़ोसियों के घरों को ढूंढ़कर उसका कहीं पता न लगा।

उस दिन, रात से ही सावन की मूसलधार वर्षा हो रही थी।

इसलिए उसे ढूंढ़ने में लोगों को नाहक बहुत भीगना पड़ा। अन्त में कहीं जब उसका पता न लगा तो विश्वम्भर बाबू ने थाने में खबर दे दी।

दिन-भर के बाद शाम को एक गाड़ी विश्वम्भर बाबू के मकान के सामने आकर खड़ी हो गई। उस समय भी लगातार बारिश हो रही थी और सड़क पर घुटने तक पानी भरा हुआ था।

पुलिस के दो सिपाहियों ने मिलकर फटिक को गाड़ी से उतारा और विश्वम्भर बाबू के पास पहुंचाया। सिर से पैर तक उसका पूरा शरीर भीगा हुआ था, बदन-भर में कीचड़ लगा हुआ था, मुंह और आंखें लाल-लाल हो गई थीं और वह थर-थर कांप रहा था। विश्वम्भर बाबू उसे गोद में उठाकर भीतर ले गए।

मामी उसे देखते ही बोल पड़ीं, "क्यों जी, पराये लड़के के लिए क्यों जान आफ़त में डाले हुए हो? उसे उसके घर क्यों नहीं भेज देते?"

वास्तव में, दिन-भर इसी फिक्र में उन्होंने ठीक तरह से कुछ खाया-पिया भी न था और अपने लड़कों पर भी नाहक काफी गुस्सा उतार चुकी थीं।

फटिक रो पड़ा, बोला, "मैं तो मां के पास जा रहा था। यही लोग मुझे लौटा लाए हैं।"

लड़के का बुखार काफी तेज़ हो गया। रात-भर आंय-बांय बकता रहा। विश्वम्भर बाबू डाक्टर ले आए।

फटिक ने एक बार अपनी लाल-लाल आंखें खोलकर ऊपर छत की धन्नियों की ओर सूनी निगाहों से देखा और कहा, "मामाजी, मेरी छुट्टी हो गई है क्या?"

विश्वम्भर बाबू ने रूमाल से आंसू पोंछे। उसके बाद स्नेह से फटिक के बुखार से जलते हुए दुबले हाथ को अपने हाथों में लिए उसके पास बैठे रहे।

फटिक फिर बड़बड़ाने लगा, "मां, मुझे मत मारो मां! सच बता रहा हूं कि मैंने कुछ नहीं किया मां!"

दूसरे दिन कुछ देर के लिए होश में आकर फटिक किसीकी

आशा में कमरे में चारों ओर पथराई आंखों से देखता रहा। निराश हो चुपचाप दीवार की ओर करवट लेकर वह लेट गया।

विश्वम्भर बाबू ने उसके मन की बात ताड़ ली और उसके कान के पास मुंह ले जाकर धीमी आवाज़ में कहा, "फटिक, तेरी मां को बुलवाया है बेटा।"

उसके बादवाला दिन भी गुजर गया। डाक्टर ने चिन्तित और उदास ढंग से कहा कि हालत बहुत खराब है।

विश्वम्भर बाबू टिमटिमाती हुई बत्ती की रोशनी में रोगी के सिरहाने बैठकर फटिक की मां के लिए हर क्षण प्रतीक्षा करते रहे।

फटिक जहाज़ के खलासियों की तरह, उन्हींके स्वर में कहने लगा, "एक बांओ मिला नहीं। दो बांओं मिला ऽ ऽ नहीं।" कलकत्ता को आते वक्त कुछ रास्ता उसे स्टीमर में आना पड़ा था। उसी स्टीमर के खलासी रस्सी डालकर गाने के स्वर में पानी की गहराई नापते थे। फटिक भी अपनी बड़बड़ाहट के झोंके में उन्हींके स्वरों में नकल करता हुआ करुण स्वर में पानी की गहराई जैसे नाप रहा था। जिस अपार समुद्र में बालक यात्रा कर रहा था, वहां कहीं पर भी रस्सी डालकर उसे उसकी थाह नहीं मिल रही थी।

ऐसे ही समय फटिक की मां आंधी की तरह कमरे में आ पहुंची और ऊंचे स्वर में रो पड़ी। विश्वम्भर ने बड़ी मुश्किल से बहिन के क्रन्दन को रोका तो वह अपने फटिक के बिस्तर पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और ज़ोर-ज़ोर से पुकारने लगी, "फटिक, मेरे लाल, मेरे मुन्ना, मेरे बेटा!"

फटिक ने मानो बड़ी आसानी से इस पुकार का जवाब दिया, अयं!"

मां ने फिर पुकारा, "अरे मेरा बेटा फटिक रे! मेरा बचुवा रे!"

फटिक ने धीरे करवट ली और किसी विशेष व्यक्ति की ओर लक्ष्य न करते हुए धीमे और गम्भीर स्वर में कहा, "मां, अब मेरी हो गई मां! अब मैं घर जा रहा हूं मां!"

रचनाकाल :
पूस–१२९९ बंगाब्द
सन् १८९२ ई०

नयनजोड़ के बाबू

(ठाकुर्दा)

नयनजोड़ के ज़मींदार किसी ज़माने में 'बाबू'[1] नाम से मशहूर थे। उस ज़माने की 'बाबूगीरी' का आदर्श बहुत सीधा नहीं था। आजकल जैसे राजा या रायबहादुर का खिताब पाने के लिए बहुत-से भोज-दावतें, नाच, घुड़दौड़, सलाम और सिफारिश का सहारा लेना पड़ता है, वैसे ही उस ज़माने में आम जनता से 'बाबू' उपाधि पाने के लिए काफी कष्टकर तपस्या करनी पड़ती थी।

हमारे नयनजोड़ के बाबू लोग किनारी फाड़ने के बाद ढाके की धोती पहनते थे, क्योंकि उसकी किनारी के खुरदरेपन से उनकी कोमल बाबूगीरी को व्यथा पहुंचती थी। वे लोग लाख रुपया खर्च करके बिल्ली के बच्चों की शादी किया करते थे और कहा जाता है कि एक बार किसी उत्सव के मौके पर दिन को रात बनाने की प्रतिज्ञा पूरी करने में इन लोगों ने अनगिनत बत्तियां जलाकर सूर्य-किरणों की नकल करते हुए ऊपर से चांदी के सच्चे गोटों की वर्षा कराई थी।

इसीसे सब लोग समझ जाएंगे कि उस ज़माने के बाबुओं की रईसी वंशानुक्रम से स्थायी नहीं हो सकती थी। बहुत-सी बत्तियोंवाले दीपक की तरह ये लोग अपना तेल बड़े ठाट-बाट से जलाकर थोड़े ही अरसे में खत्म कर दिया करते थे।

हमारे कैलाशचन्द्र राय चौधरी नयनजोड़ के उस प्रख्यात बाबू खानदान के एक बुझे हुए बाबू हैं। जिस समय इनका जन्म हुआ था, तेल दीपक के तल में ही बाकी रह गया था। इनके पिता की मृत्यु के बाद नयनजोड़ की बाबूगीरी श्राद्ध-शान्ति के कई एक असाधारण

---

१. रईस का पर्यायवाचक,

अनुष्ठानों से अपनी अन्तिम ज्योति बिखेरकर अचानक बुझ गई। सभी ज़र-जायदाद कर्ज़ के कारण बिक गई, जो कुछ थोड़ा-बहुत बचा-खुचा रहा उससे बाप-दादों का यश बनाए रखना असम्भव हो गया।

इसलिए नयनजोड़ छोड़कर अपने पुत्र को साथ लेकर कैलाश बाबू कलकत्ता आकर रहने लगे। और वह पुत्र भी अपनी एक बेटी और इस हतगौरव परिवार को पीछे छोड़ परलोक सिधार गया।

हम लोग उनके कलकत्ता के पड़ोसी हैं। हमारा इतिहास उनसे बिलकुल ही उलटा है। मेरे पिता ने अपने प्रयास से धन कमाया था। वे कभी घुटनों से नीची धोती नहीं पहनते थे, कौड़ी-कौड़ी का हिसाब रखते थे और उन्हें बाबू-उपाधि पाने की कोई लालसा नहीं थी। इस कारण मैं, उनका इकलौता बेटा, उनका आभारी हूं। मेरा विचार है कि मैं जो पढ़-लिखकर शिक्षित बन गया हूं और अपने प्राण और सम्मान की रक्षा के योग्य पर्याप्त धन बिना प्रयास के पा गया हूं, इतना ही मेरे लिए परम गौरव का विषय है। शून्य भंडारवाली पुश्तैनी 'बाबूगीरी' के उज्ज्वल इतिहास की अपेक्षा लोहे की तिजोरी में रखे कम्पनी के कागज़ (प्रामेसरी और करेंसी नोट) मेरे लिए अधिक मूल्यवान हैं।

शायद इसी कारण जब कैलाश बाबू अपने पूर्व-गौरव के दिवालिया बैंक पर मनमाने लम्बे-चौड़े चैक काटा करते थे, तब मुझे वह अत्यन्त असह्य लगने लगता था। मुझे ऐसा लगता था कि मेरे पिताजी ने चूंकि अपने हाथों से धन कमाया है इसलिए कैलाश बाबू शायद मन ही मन हमारी अवज्ञा करते हैं। मुझे इस बात पर गुस्सा आ जाता और मैं सोचता कि दोनों में से अवज्ञा के योग्य कौन है? जिस व्यक्ति ने जीवन-भर कठोर त्याग स्वीकार कर, तरह-तरह के प्रलोभनों को पार कर, लौकिक तुच्छ प्रशंसा की अवहेलना कर, अथक परिश्रम और सतर्क बुद्धि के द्वारा सारी प्रतिकूल बाधाओं को जीतकर एक-एक चांदी की तह को समेटते हुए दौलत का एक ऊंचा 'पिरामिड' निपट अकेले अपने हाथों से बना डाला है, वह केवल इसी कारण कि घुटनों से नीची धोती उन्होंने नहीं पहनी। मामूली व्यक्ति अपने को

इस प्रकार से बना ले—यह असम्भव है।

तब मेरी उम्र कम थी इसलिए ऐसी बहस किया करता था और गुस्से में भी आ जाता था। अब मेरी उम्र ज़्यादा हो गई है और अब मैं सोचा करता हूं, इसमें नुकसान ही क्या है ? मेरे पास तो काफी जायदाद है, मुझे किस बात की कमी है ? जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह अगर अहंकार करके सुखी होता हो तो दमड़ी-भर का भी मेरा नुकसान नहीं होता, बल्कि उस बेचारे को इससे अगर कुछ सन्तोष मिलता है तो मिलने दो।

यह भी मैंने गौर किया कि मेरे सिवा और कोई कैलाश बाबू पर नाराज़ नहीं होता। इसका कारण यह था कि इतना निरीह व्यक्ति आम तौर से देखने में नहीं आता। क्रिया-कर्म और सुख-दुःख में पड़ोसियों से उनका पूरा सम्पर्क था। बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी-से, मुलाकात होते ही वे हंसते हुए प्रिय सम्भाषण करते और हरएक से उसके सारे सम्बन्धियों का कुशल-मंगल पूछने के उपरान्त ही उनका शिष्टाचार दम लेता था। यही कारण है कि किसीके साथ उनकी भेंट होते ही एक लम्बी प्रश्नमाला की सृष्टि हो जाती—"कहिए, कुशल से तो हैं ? शशी का क्या हाल है ? हमारे बड़े बाबू तो कुशल से हैं न ? सुना था, मधु के लड़के को बुखार आ गया है, अब तो ठीक है न ? हरिचरण बाबू को बहुत दिनों से नहीं देखा, खैरियत से तो हैं ? तुम लोगों के राखाल का क्या हाल-चाल है ? और घर में बाल-बच्चे तो सब खैरियत से हैं ?" इत्यादि।

कैलाश बाबू बड़े साफ-सुथरे व्यक्ति हैं। कपड़े-लत्ते उनके पास ज़्यादा नहीं थे, लेकिन मिरज़ई, चादर, कुरता यहां तक कि एक पुराना पलंगपोश, छोटी-सी दरी, तकिये का गिलाफ सब अपने हाथों से धूप में सुखाकर, झाड़-पोंछकर ऐसे करीने से उसे अलगनी पर तह करके रखते थे कि देखते ही बनता था। जब भी उन्हें देखता, लगता कि वे सज-धजकर तैयार हैं। बहुत कम सामान-असबाब होते हुए भी उनका घर-द्वार हर वक्त चमचमाता रहता। ऐसा लगता मानो उनके पास और भी बहुत कुछ है।

नौकर के अभाव में अक्सर वे कमरे का दरवाज़ा बन्द कर अपने

हाथ से धोती चुना करते और चादर और कुरते की आस्तीन में बड़े जतन से चुन्नट डाला करते। उनकी बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां और बहुमूल्य सम्पत्तियां खत्म हो चुकी थीं, लेकिन एक बेशकीमती गुलाब-पाश और इत्रदान, एक सोने की तश्तरी, एक चांदी की फरशी, एक बेशकीमती दुशाला और पुराने ज़माने के पहनावे का एक जोड़ा और पगड़ी—इतनी चीज़ों को उन्होंने बड़ी ही कोशिश से गरीबी के ग्रास से बचा लिया था। कोई भी खास मौका आता तो ये सब चीज़ें निकलतीं और नयनजोड़ के जगद्विख्यात बाबुओं की रईसी के गौरव को बचा लेतीं।

वैसे कैलाश बाबू बहुत ही सीधे और सज्जन व्यक्ति थे; किन्तु अपनी बातचीत के दौरान वे जो अहंकार प्रकट किया करते वह मानो केवल अपने पुरखों के प्रति कर्तव्य समझकर ही करते थे और सभी लोग इसे बढ़ावा देते और उसमें विशेष आनन्द पाते थे।

मुहल्ले के लोग उन्हें दादाजी कहा करते और उनके घर पर काफी लोग सदा इकट्ठे हो जाया करते थे; लेकिन गरीबी में कहीं उनका तम्बाकू का खर्च न बढ़ जाए, इस ख्याल से अक्सर मुहल्ले का कोई न कोई दो-एक सेर तम्बाकू खरीद ले जाता और उनसे कहता, "दादाजी, एक दफे परखिए तो, गयाजी की बढ़िया तम्बाकू मिल गई तो लेता आया।"

दादाजी दो-एक कश लगाकर कहते, "तम्बाकू तो काफी अच्छी है भाई।" बस इसी सिलसिले में वह साठ-पैंसठ रुपये तोले की तम्बाकू का किस्सा छेड़ देते और लोगों से पूछते कि किसीको उस तम्बाकू का मज़ा लेने की ख्वाहिश है या नहीं।

सभी लोग जानते थे कि कोई मज़ा लेने की इच्छा कहीं प्रकट भी कर दे तो ज़रूर उन्हें चाभी ढूंढे नहीं मिलेगी या बहुत खोज-तलाश के बाद वे कहेंगे कि घर का पुराना नौकर गणेश इतना नालायक है कि कब किस चीज़ को कहां रख देता है, कोई ठिकाना ही नहीं। गणेश भी बिना तकरार के उनकी हर बात मान लेता था। इसलिए सभी लोग एकसाथ कहने लगते, "रहने दो दादाजी, वह तम्बाकू हम लोगों से बरदाश्त नहीं होगा—हम लोगों के लिए यही

तम्बाकू अच्छा है।"

सुनकर दादाजी कुछ न कहकर सिर्फ मुस्करा देते। और जब सब लोग विदा लेने लगते तो वृद्ध सहसा कहने लगते, "सो तो हुआ, लेकिन यह तो बताओ, तुम लोग मेरे यहां खाना-पीना कब करोगे भाई ?"

बस, सभी लोग एकसाथ जवाब दे देते, "वह देखा जाएगा, कोई दिन-विन तय कर लिया जाए, उसके बाद।"

दादाजी कहते, "यही अच्छा है। ज़रा बारिश हो, ठंड पड़े वरना इन गर्मी में गरुश्रा भोजन कुछ ठीक भी नहीं होता।"

जब वर्षा होती तब दादाजी को कोई उनके वादे की याद नहीं दिलाता, बल्कि इसकी चर्चा छिड़ जाने पर सभी कहने लगते, "इस बरसात-पानी में दावत का कोई मज़ा नहीं मिलता।" दादाजी के सामने उनके सभी इष्ट मित्र इस बात को मान लिया करते कि इस छोटे-से मकान में रहना उनके लिए बड़ा तकलीफदेह भी है और उन्हें शोभा भी नहीं देता, हालांकि इस विषय में भी उनको सन्देह न था कि कलकत्ता में खरीदने लायक मकान ढूंढ़ निकालना भी कितना कठिन है। यहां तक कि आज छः-सात महीने हो गए, मुहल्लेवालों में से किसीको भी किराये पर एक बड़ा-सा मकान ढूंढ़े न मिला। हार मानकर दादाजी कहते, "रहने भी दो भाई। तुम लोगों के निकट रहता हूं यही मेरा सुख है, वरना नयनजोड़ में आलीशान कोठी तो पड़ी ही हुई है—पर वहां मन ही नहीं लगता।"

मेरी धारणा तो यह है कि दादाजी भी जानते थे कि सभी लोग उनकी माली हालत के बारे में वाकिफ हैं और जब वे भूतकाल के नयनजोड़ को वर्तमान समझने का छल करते और बाकी सब लोग भी उसमें शरीक होते, तब वे मन ही मन समझ लेते कि परस्पर की यह छलना केवल एक-दूसरे के प्रति सहृदयता के कारण ही है।

लेकिन मुझे इससे बड़ी उलझन होती। कम उम्र में दूसरे के मासूम गरूर को भी चूर करने का जी करता है और हज़ारों रंगीन जुर्मों से बुद्धिहीनता ही अधिक असहनीय लगने लगती है। लेकिन कैलाश बाबू सही माइनों में बुद्धिहीन नहीं थे। कार्म-काज में उनकी

सहायता और सलाह की सभी लोग कदर करते थे। लेकिन नयनजोड़ का बड़प्पन जताते वक्त वह अपना होश-हवास खो बैठते थे। सभी लोग उनसे प्रेम-भाव रखते थे और उनकी बातों का आनन्द लेते थे। इस कारण उनकी किसी भी असम्भव बात को बिना रोक-टोक के वे सुन लेते थे और इसी वजह से वह अपनी लंतरानी हांकते वक्त हद से बाहर निकल जाते थे। दूसरे लोग भी हंसी में या उन्हें खुश करने की गरज़ से नयनजोड़ के ठाट-बाट के बारे में अतिशयोक्ति करना शुरू कर देते, तब भी वे चुपचाप उसे स्वीकार कर लेते और स्वप्न में भी उन्हें सन्देह न होता कि कोई इन सब बातों पर तनिक भी अविश्वास कर सकता है।

कभी-कभी तो मेरे मन में ऐसा आता था कि यह वृद्ध जिस झूठे किले का सहारा लेकर उसमें रह रहा है और समझ रहा है कि वह चिरस्थायी है—उस किले को सबके सामने मैं तोप के दो गोलों से उड़ा दूं। किसी चिड़िया को डाली पर आराम से बैठी हुई देखते ही शिकारी का मन करता है कि उसे गोली का निशाना बना ले। पहाड़ पर कोई पतनोन्मुख पत्थर देखते ही बालक का मन करता है कि उसे ठोकर मारकर नीचे लुढ़का दे—जो वस्तु हर वक्त गिरने ही वाली है लेकिन किसी वस्तु से अटकी हुई है, उसे गिरा देने से ही मानो सम्पूर्णता पूरी हो जाती है और दर्शकों को तृप्ति मिलती है। कैलाश बाबू के झूठ इतने ही सरल थे, उनकी बुनियाद इतनी कमज़ोर थी और वे सचाई की बन्दूक के सामने आकर सीना खोलकर ऐसे नाचते थे कि उन्हें क्षण-भर में मटियामेट कर देने के लिए बड़ा ही आवेश आता—लेकिन केवल आलस्य और सर्वजनसम्मत प्रथा का ख्याल कर इस काम से मैं विरत रहता था।

२

अपने अतीत के मनोभावों की छानबीन करके, जहां तक मुझे याद आता है उससे यह महसूस करता हूं कि कैलाश बाबू के प्रति मेरे आन्तरिक विद्वेष का और एक गूढ़ कारण था। ज़रा ब्योरे से बताना ज़रूरी है।

धनी व्यक्ति का बेटा होकर भी मैंने यथासमय एम० ए० पास किया है, जवानी के होते हुए भी किसी तरह की बुरी सोहबत में पड़कर कुत्सित आमोद-प्रमोद में हिस्सा नहीं लिया, और अभिभावक की मृत्यु के बाद स्वयं मालिक बन जाने पर भी स्वभाव में किसी प्रकार की विकृति नहीं आने पाई है। इसके अलावा, मेरा चेहरा ऐसा है कि अगर मैं अपने मुंह अपने को सुन्दर कहूं तो वह अहंकार तो हो सकता है पर असत्य कतई नहीं है।

इसलिए, बंगाल में, विवाह के बाज़ार में मेरा दाम काफी था इसमें सन्देह नहीं और इस बाज़ार से मैं अपनी पूरी कीमत वसूल कर लूंगा ऐसा मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया था। मेरी कल्पना में आदर्श के रूप में धनी पिता की परम रूपवती इकलौती रूपसी बेटी विराज रही थी।

मेरे लिए दस-दस हज़ार रुपये के दहेज के प्रस्ताव दूर-दूर से आने लगे। मैं अविचलित-सा तराज़ू पर उन सबकी योग्यता को तोल रहा था। कोई भी रिश्ता मेरे योग्य न लगा। अन्त में भवभूति की तरह मेरी भी धारणा हो गई कि शायद कहीं कोई मेरे योग्य कन्या जन्म ले चुकी होगी, क्योंकि काल की सीमा नहीं और पृथ्वी विशाल है।[1]

लेकिन वर्तमानकाल में और इस क्षुद्र बंग देश में उस असम्भव दुर्लभ वस्तु ने जन्म लिया है या नहीं इसमें सन्देह है।

कन्यादायग्रस्तों का दल प्रतिक्षण विभिन्न छन्दों में मेरी स्तुति-प्रशंसा और विविध उपचारों से मेरी पूजा करने लगा। कन्या पसन्द आए चाहे न आए पर यह पूजा मुझे कुछ बुरी न लगी। उत्तम पात्र के रूप में कन्याओं के पिताओं से यह पूजा मेरा उचित प्राप्य है, ऐसा मैंने निश्चय कर लिया था। शास्त्रों में लिखा है कि देवता वर दें या न दें किन्तु यथाविधि पूजा न मिलने पर वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं। नियमित रूप से पूजा पाकर मेरे मन में ऐसा ही भव्य देवभाव जागरित हो उठा था।

पहले ही बता चुका हूं कि दादाजी की एक पौत्री है। उसे मैंने बहुत

---

१. उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ ८।१ मालतीमाधव

बार देखा है लेकिन कभी भी मुझे वह रूपवती नहीं लगी। इसलिए उससे विवाह करने की कल्पना भी मेरे मन में कभी नहीं आई। लेकिन मन में यह सोच रखा था कि कैलाश बाबू किसी आदमी के ज़रिये या खुद आकर अपनी पौत्री को मुझपर अर्घ्य-भेंट करने की इच्छा से पूजा चढ़ाएंगे, क्योंकि मैं अच्छा लड़का हूं। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

सुनने को मिला कि उन्होंने मेरे किसी मित्र से कहा था कि नयनजोड़ के बाबू कभी किसी मामले में आगे बढ़कर किसीसे कुछ प्रार्थना नहीं करते हैं—कन्या चाहे चिरकुमारी बनी रहे पर वे अपनी कुल-प्रथा नहीं तोड़ सकेंगे।

सुनकर मुझे बड़ा गुस्सा आया। वह गुस्सा बहुत दिन तक मेरे मन में बना रहा—लेकिन चूंकि मैं अच्छा लड़का हूं, इसलिए चुप रहा।

जिस प्रकार वज्र के साथ बिजली रहती है, उसी प्रकार मेरे चरित्र में क्रोध के साथ एक प्रकार की कौतुकप्रियता भी विद्यमान थी। वृद्ध को ख्वाहमख्वाह पीड़ा पहुंचाना मेरे लिए सम्भव नहीं था, लेकिन एक दिन अचानक ऐसी एक कौतुकपूर्ण योजना मेरे दिमाग में आई कि उसे कार्यान्वित करने का लोभ मैं दबा न सका।

पहले ही बता चुका हूं कि उस वृद्ध को खुश करने के लिए लोग तरह-तरह की झूठी मनगढ़न्त बातें गढ़ा करते थे। मुहल्ले के एक पेंशन-याफ्ता डिप्टी मजिस्ट्रेट अक्सर कहा करते, "दादाजी, छोटे लाट साहब के साथ जब भी मेरी मुलाकात होती है, वे नयनजोड़ के बाबुओं के हाल-चाल के बारे में पूछ-ताछ किए बिना नहीं रहते। साहब का कहना है कि बंगाल में दो ही पुराने रईस खानदान हैं, एक तो बर्दवान के राजा और दूसरे नयनजोड़ के बाबू।"

दादाजी बड़े खुश होते और भूतपूर्व डिप्टी साहब से भेंट होते ही अन्यान्य कुशल-समाचार पूछने के साथ-साथ यह भी पूछ लेते, "छोटे लाट साहब खैरियत से तो हैं? मेम साहब कुशल से हैं न? उनके बाल-बच्चे सब मज़े में तो हैं?" साथ ही साथ यह भी इच्छा प्रकट करते कि जल्दी ही किसी दिन वे उनसे मिलने जाएंगे। लेकिन भूतपूर्व

डिप्टी साहब को यह भली भांति मालूम था कि नयनजोड़ की प्रसिद्ध चार घोड़े की बग्घी दादाजी के दरवाज़े पर आते-आते बहुत-से छोटे और बड़े लाट बदल जाएंगे।

एक दिन सवेरे कैलाश बाबू के घर पर मैं गया। उन्हें अलग ले जाकर मैंने चुपके से कहा, "दादाजी, कल मैं लैफ्टिनेंट गवर्नर की लाबी में गया था। उन्होंने नयनजोड़ के बाबुओं का ज़िक्र किया तो मैंने उनसे कहा कि नयनजोड़ के कैलाश बाबू कलकत्ता में ही हैं। सुन-कर उन्होंने बहुत अफसोस ज़ाहिर किया कि वे आपसे मिलने नहीं आ सके। उन्होंने कह दिया कि आज दोपहर को ही वे आपसे गुप्त रूप से आकर मिलेंगे।"

दूसरा कोई होता तो मेरी इस बात की असम्भवता समझ जाता और किसी दूसरे आदमी के बारे में भी होता तो वे हंस देते, लेकिन अपने बारे में होने के कारण इस बात पर उन्हें ज़रा भी शक न हुआ। सुनकर जिस तरह वे खुश हुए उसी तरह चंचल भी हो उठे। उन्हें कहां बिठाया जाएगा, क्या करना होगा, किस तरह से आवभगत की जाएगी, किस उपाय से नयनजोड़ के सम्मान की रक्षा होगी—वे कुछ तय न कर सके। इसके अलावा और एक समस्या थी कि वे अंग्रेज़ी नहीं जानते थे तो बात कैसे करेंगे ?

मैंने कहा, "इसके लिए कोई चिन्ता न करें। उनके साथ एक दुभाषिया रहता है। लेकिन छोटे लाट साहब की यह खास इच्छा है कि वे जब आपसे मिलने आवें तो कोई दूसरा वहां न रहे।"

दोपहर को, जब ज़्यादातर लोग अपने-अपने दफ्तर चले गए थे और बाकी लोग दरवाज़ों को बन्द कर सो रहे थे, तब कैलाश बाबू के मकान के सामने एक बग्घी आकर रुकी।

तगमा पहने चपरासी ने आकर उन्हें खबर दी कि छोटे लाट साहब तशरीफ ले आए हैं। दादाजी प्राचीनकाल में प्रचलित सफेद अचकन पहने तैयार बैठे थे और अपने पुराने नौकर गणेश को भी अपना धोती-कुर्ता पहना दिया था। छोटे लाट के आने की खबर सुनते ही वे हांफते और कांपते हुए दौड़कर दरवाज़े पर पहुंच गए और झुककर बार-बार सलाम करते हुए अंग्रेज़ वेशधारी मेरे एक

प्रिय मित्र को कमरे में ले गए।

वहां एक तख्तपोश पर उन्होंने अपना एकमात्र बहुमूल्य दुशाला बिछा रखा था—उसीपर उन्होंने कृत्रिम छोटे लाट साहब को बिठाकर उर्दू में लिखित एक अति विनीत लम्बा भाषण पढ़कर सुनाया। फिर नज़र के बतौर सोने की तश्तरी पर बड़े कष्ट से बचाया हुआ वंशानुक्रम से मिला हुआ अशर्फियों का एक हार उन्हें भेंट किया। प्राचीन भृत्य गणेश गुलाबपाश और इत्रदान लेकर खिदमत में हाज़िर था।

कैलाश बाबू बार-बार अफसोस ज़ाहिर करने लगे कि उनके नयनजोड़ की हवेली में हुज़ूर बहादुर के चरणों की धूलि पड़ती तो वहां वे यथासाध्य यथोचित खातिर-तवाजेह का इन्तज़ाम कर सकते थे। कलकत्ता में वे प्रवासी हैं, यहां वे जलहीन मीन के समान हर मामले में लाचार हैं—आदि आदि।

मेरे मित्र बड़ी गम्भीरता के साथ लम्बा हैट लगाए सिर को बार-बार हिलाते रहे। अंग्रेज़ी कायदे के मुताबिक ऐसे मौकों पर सिर पर टोप नहीं रहना चाहिए, लेकिन मेरे मित्र ने भेद खुल जाने के डर से भरसक ढके रहने में ही खैरियत है, यह समझकर हैट को सर से नहीं उतारा। कैलाश बाबू और उनके गर्वान्ध पुराने नौकर के अलावा कोई भी आदमी बंगाली का यह छद्मवेश क्षण-भर में पकड़ सकता था।

दस मिनट तक गर्दन हिलाने के बाद मेरे मित्र उठे और पहले दी हुई सीख के अनुसार चपरासियों ने सोने की तश्तरी-समेत अशर्फियों का हार, तख्तपोश पर से वह दुशाला और नौकर के हाथ से गुलाबपाश और इत्रदान लेकर छद्मवेशी की बग्घी में रख दिया। कैलाश बाबू ने समझा कि छोटे लाट की ऐसी ही प्रथा होगी। मैं छिपकर बगल के एक कमरे से देख रहा था और अपनी रोकी हुई हंसी के वेग से मेरा पेट फटा जा रहा था।

अन्त में जब मुझसे किसी तरह से भी रहा न गया तो दौड़कर दूर के एक कमरे में घुस गया और वहां हंसी का वेग मुक्त करते ही अचानक देखा कि एक लड़की तख्त पर औंधी पड़ी सुबक-सुबककर

रो रही है।

सहसा मुझे कमरे में घुसकर हंसते देख वह उसी दम तख्त छोड़-कर अलग खड़ी हो गई, और आंसू से रुंधे कंठ में रोष का गर्जन लाकर मेरे मुंह पर अपनी सजल विशाल काली आंखों से तेज़ बिजली-सी गिराती हुई बोली, "मेरे दादाजी ने तुम लोगों का क्या बिगाड़ा है ? क्यों तुम लोग उन्हें ठगने और धोखा देने आए हो ? तुम लोग क्यों आए हो ?"—और अन्त में जब कोई दूसरी बात न सूझी तो वाक्‌रुद्ध मुंह में कपड़ा भरकर रो उठी।

मेरा वह हास्य कहां चला गया ? मेरे दिमाग में इतनी देर तक यह बात नहीं आई थी कि मैंने जो कुछ किया है वह निरे मज़ाक के अलावा और भी कुछ हो सकता था। लेकिन अचानक देखा कि मैंने बड़े ही कोमल स्थान पर चोट पहुंचाई है। यकायक मेरे किए हुए कर्म की वीभत्स निर्दयता मेरे सामने स्पष्ट हो उठी। शर्म और पछ-तावे को लेकर मैं दुत्कारे हुए कुत्ते की तरह चुपचाप कमरे से निकल आया। वृद्ध ने मेरा क्या बिगाड़ा था ? उनके निरीह अहंकार ने कभी किसी प्राणी को चोट नहीं पहुंचाई थी। फिर मेरे अहंकार ने ऐसा खूंखार रूप क्यों ले लिया ?

इसके अलावा और एक मामले में भी मेरी आंखें आज खुल गईं। मुझे ऐसा लगता था कि विवाह के बाज़ार में वह इस प्रतीक्षा में बैठी हुई है कि कोई व्यक्ति विवाह की इच्छा लिए उसे पसन्द कर ले। सोचता रहता था कि मैंने पसन्द नहीं किया सो वह पड़ी है। कभी किसीको वह पसन्द आ जाएगी तो वह उसीकी हो जाएगी। लेकिन आज मैंने देखा कि इस घर के कोने में उस बालिका-मूर्ति की ओट में एक मानव-हृदय भी है। मेरे सामने उसका अन्तःकरण जैसे प्रत्यक्ष हो उठा। वह उसके अनुराग और विरागों से पूर्ण था। उस अन्तःकरण के एक ओर धुंधला अतीत और दूसरी ओर एक अनिश्चित भविष्य था। मुझे ऐसा लगा जैसे अतीत और भविष्य के रहस्यमय राज्य में पूर्व से पश्चिम तक विशाल रूप में उसका अन्तःकरण फैला पड़ा है।

जिस मनुष्य में हृदय है वह क्या सिर्फ दहेज के रुपये और नाक, कान, आंख की नाप लेकर पसन्द कर लेने के ही योग्य है ?

रात-भर नींद नहीं आई। अगले दिन सवेरे वृद्ध के सारे चुराए हुए बेशकीमती सामान लेकर चोर की तरह चुपके-चुपके दादाजी के घर पहुंचा। इच्छा थी कि किसीसे बिना कुछ कहे यह सब चुपके से नौकर के हाथ में सौंप आऊंगा।

नौकर को न देखकर मैं आनाकानी कर रहा था कि पास के कमरे में दादा और पौत्री की बातचीत सुन पड़ी। पौत्री स्वर में मिठास और स्नेह घोलकर पूछ रही थी, "दादाजी, कल लाट साहब ने तुमसे क्या कहा था?" दादाजी ने हर्षित चित्त से लाट साहब के मुंह से प्राचीन नयनजोड़-वंश की काफी तारीफ करने का वर्णन किया। बालिका यह सुनकर बड़ा ही उत्साह प्रकट करने लगी।

वृद्ध अभिभावक के प्रति इस मातृहृदया छोटी-सी बालिका की सकरुण छलना देखकर मेरी दोनों आंखें भर आईं। बहुत देर चुपचाप बैठा रहा। अन्त में दादाजी जब अपना किस्सा खत्म कर चले गए तो मैं अपनी धोखेबाजी का सामान लेकर बालिका के सामने जा पहुंचा और चुपचाप सब सामान उसके सामने रखकर चला आया।

वर्तमानकाल की प्रथा के अनुसार दूसरे दिन वृद्ध को देखकर मैं किसी प्रकार का अभिवादन नहीं करता था—लेकिन आज मैंने उन्हें प्रणाम किया। दादाजी ने जरूर यह सोचा कि कल उनके घर छोटे लाट के आने से ही सहसा मेरे मन में उनके प्रति यह आदर-भाव बढ़ गया है। वे पुलकित हो शतमुख से छोटे लाट के बारे में मनगढ़न्त किस्सा बना-बनाकर सुनाने लगे। मैं भी बिना कुछ टोके ध्यान से उसे सुनने लगा। बाहर के दूसरे लोगों ने, जिन्होंने ये बातें सुनीं, उन्होंने भी इसे कल्पित कहानी मान लिया और उनकी हर बात में कौतुक से हामी भरते रहे।

जब सब लोग उठकर चले गए तो मैंने बड़े ही सलज्ज भाव से दीनता के साथ दादाजी के सामने एक प्रस्ताव रखा। मैंने कहा, "हालांकि नयनजोड़ के बाबुओं की वंश-मर्यादा की तुलना में मेरी कोई भी हैसियत नहीं है, फिर भी..."

मेरा प्रस्ताव सुनते ही वृद्ध ने मुझे बांहों में बांध लिया और आनन्द के आवेश में बोल पड़े, "मैं गरीब हूं—मेरा ऐसा सौभाग्य

हो सकता है यह मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी भाई। मेरी कुसुम ने बहुत पुण्य किया है, इसीसे आज तुमने यह बन्धन स्वीकार किया।"

कहते-कहते वृद्ध की आंखों से आंसू टपकने लगे।

वृद्ध ने, आज ही पहली बार अपने गौरवशाली पूर्वपुरुषों के प्रति अपना कर्तव्य भूलकर यह स्वीकार किया कि वे गरीब हैं और स्वीकार किया कि मुझे पाकर नयनजोड़ के वंश का गौरव कुछ भी नहीं घटेगा। जब मैं उस वृद्ध को बेवकूफ बनाने की साजिश रच रहा था, वह वृद्ध मुझे परम सत्पात्र समझकर मेरी ही कामना कर रहा था।

रचनाकाल :

जेठ १३०२ बंगाब्द

सन् १८९५ ई०

७ | पत्नी का पत्र

श्रीचरणकमलों में—

हम लोगों का ब्याह हुए आज पन्द्रह साल हो गए लेकिन आज तक मैंने तुम्हें कोई चिट्ठी नहीं लिखी। हमेशा तुम्हारे पास ही रही—मेरी बातें तुम बहुत सुन चुके हो और मैं तुम्हारी, पर चिट्ठी लिखने का अवकाश कभी न मिल सका।

आज मैं तीर्थ करने श्रीक्षेत्र पुरी आई हुई हूं और तुम अपने दफ्तर के काम में लगे हुए हो। कलकत्ता के साथ तुम्हारा वही सम्बन्ध है जो घोंघा के साथ उसके खोल का होता है—वह तुम्हारे शरीर और मन के साथ चिपक गया है। इसीलिए तुमने दफ्तर में छुट्टी के लिए दरख्वास्त नहीं दी। विधाता की ऐसी ही मर्जी थी—उन्होंने मेरी छुट्टी मंजूर कर ली।

मैं तुम्हारे घर की मझली बहू हूं। आज पन्द्रह साल के बाद इस समुद्र के किनारे खड़ी मैं समझ रही हूं कि विश्व और जगदीश्वर के साथ मेरा कोई दूसरा सम्बन्ध भी है। इसी कारण आज हिम्मत बांधकर यह चिट्ठी लिख रही हूं। यह तुम्हारे घर की मझली बहू की चिट्ठी नहीं है।

तुम्हारे साथ मेरे सम्बन्ध का लेख जिसने मेरे माथे पर लिखा था और उनके सिवा कोई दूसरा जिस समय उस संभावना के बारे में नहीं जानता था, तब, उस बचपन में, मैं और मेरे भाई दोनों को सन्निपात हो गया था। मेरा भाई मर गया और मैं जी उठी। मुहल्ले की सभी औरतें कहने लगीं, "मृणाल लड़की है न, तभी तो बच गई। लड़का होती तो क्या बच सकती थी!" यमराज चोरी की विद्या में

बड़े दक्ष हैं और मूल्यवान वस्तुओं पर ही उनका लोभ है।

मेरे लिए कोई मृत्यु नहीं है। इसी बात को भली भांति समझाने के लिए यह चिट्ठी लिखने बैठी हूं।

जिस दिन तुम्हारे दूर रिश्ते के मामा तुम्हारे मित्र नीरद को साथ लेकर 'कन्या देखने' गए थे, उस समय मेरी उम्र बारह साल की थी। बीहड़ दुर्गम देहात में हमारा घर था जहां दिन में भी सियार बोला करते हैं। स्टेशन से सात कोस घोड़ागाड़ी में और बाकी तीन मील पालकी में चलने के बाद हमारे गांव में पहुंचा जा सकता है। उस दिन तुम लोगों को कितनी ही परेशानी उठानी पड़ी थी। तिस-पर हमारे यहां का गंवई खान-पान। रसोई का वह प्रहसन आज भी मामाजी भूल नहीं सके।

तुम्हारी मां की कठोर ज़िद थी कि वे अपनी बड़ी बहू के सौंदर्य की कमी को मझली बहू से पूरा करके रहेंगी, वरना इतनी परेशानी उठाकर हम लोगों के उस वज्र-देहात में तुम लोग क्यों आते! बंगाल में तिल्ली, जिगर, अम्लशूल आदि बीमारियों और लड़की के लिए किसीको कोई खोज नहीं करनी पड़ती, ये खुद ही आकर चिपक जाती हैं और किसी तरह से भी छुड़ाए नहीं छूटतीं।

पिताजी का दिल धड़कने लगा और अम्मा दुर्गा-नाम जपने लगीं। शहर के देवता को देहात के पुजारी क्या चढ़ाकर सन्तुष्ट करें? भरोसा लड़की के रूप का था, लेकिन उस रूप का गरूर तो उस लड़की में है नहीं। जो व्यक्ति देखने आए हैं वे जो कीमत उसकी लगाएंगे वही उसकी कीमत है। यही कारण है कि रूप-गुण कितना ही क्यों न हो, उससे नारी का संकोच नहीं दूर होता।

घर-भर का, यहां तक कि मुहल्ले-भर का सारा आतंक मेरी छाती पर पत्थर-सा जम बैठा। उस दिन आकाश का सारा प्रकाश और संसार की सारी शक्ति एक बारह साल की देहाती लड़की को दो परीक्षकों की दो जोड़ी आंखों के सामने पेश करने में मानो प्यादे का काम कर रहे थे—मेरे लिए छिपने की कोई जगह ही नहीं थी।

सारे आकाश को रुलाती हुई बांसुरी बजने लगी—मैं तुम्हारे घर आ पहुंची। मेरे सारे नुक्सों को विस्तार से देखने के बाद गृहिणियों

के दल ने अन्त में मान लिया कि हां, बहू है तो सुन्दरी। यह सुनकर मेरी जेठानी का मुंह भारी हो गया। लेकिन मैं सोचती हूं, मेरे इस रूप की ज़रूरत ही क्या थी? रूप नामक वस्तु को अगर कोई पुराने ज़माने का पंडित गंगा की मिट्टी से गढ़ता तो उसकी कदर होती, लेकिन चूंकि उसे विधाता ने अपने मन की खुशी-अनुसार गढ़ा है इसलिए तुम्हारे धार्मिक परिवार में उसकी कोई कीमत नहीं।

यह बात भूलने में तुम्हें ज़्यादा दिन नहीं लगे कि मेरे पास रूप है। लेकिन पग-पग पर तुम्हें यह बात याद करनी पड़ी है कि मेरे पास बुद्धि भी है। यह बुद्धि मेरी इतनी अधिक स्वाभाविक है कि तुम्हारी घर-गिरस्ती में इतने दिन बिता देने के बाद भी आज तक वह टिकी हुई है। मेरी इस बुद्धि के लिए मां बहुत उद्विग्न रहा करती थीं कि औरतों के लिए बुद्धि एक बला ही है। जिसे बाधाएं मानकर चलना पड़ेगा वह अगर बुद्धि को मानकर चलना चाहे तो ठोकर खाते-खाते उसका माथा फूटकर ही रहेगा। लेकिन भला बताओ, करूं भी तो क्या करूं? तुम्हारे घर की बहू के लिए जितनी बुद्धि की ज़रूरत है, असावधानी से मुझे उससे कुछ ज़्यादा बुद्धि विधाता दे बैठे तो मैं अब उसे लौटाऊं भी तो किसे? तुम लोग मुझे सुबह-शाम गालियां देते रहे हो। असमर्थों के लिए गाली-गलौज ही तसल्ली है, इसलिए उन्हें मैं क्षमा करती हूं।

तुम लोगों की घर-गिरस्ती के बाहर मेरी एक चीज़ थी, जिसके बारे में तुम लोग कभी जान न सके। मैं छिप-छिपकर कविताएं लिखा करती थी। वे राख-धूल कुछ भी क्यों न हों, वहां तुम्हारी अन्तःपुर की चहारदीवारी नहीं उठ सकी थी। मेरे अन्दर तुम लोगों की मझली बहू के सिवा और जो भी कुछ है उसे तुम लोगों ने पसन्द नहीं किया और न कोई उसे पहचान ही सका। मैं कवि हूं, यह बात इन पन्द्रह सालों में भी तुम लोगों से जानी नहीं जा सकी।

तुम लोगों के घर की स्मृतियों में जो सबसे अधिक मेरे मन में उभर रही है वह है तुम लोगों की गोशाला की स्मृति। अन्तःपुर की ड्योढ़ी के ज़ीने के बिलकुल बगल की कोठरी में तुम लोगों की गायें रहती थीं—सामने के आंगन के सिवा उनके लिए हिलने-डुलने की

कोई जगह ही नहीं थी। उस आंगन के एक कोने में उनकी सानी-भूसी की लकड़ी की बनी नादें थीं। सवेरे नौकरों को बहुत-से काम रहते लिहाज़ा भूखी गायें तब तक उन नादों का किनारा जीभ से चाट-चाटकर और दांत से चबा-चबाकर खोखला कर दिया करती थीं। मेरा प्राण रो उठता था। मैं थी देहात की लड़की—जिस दिन तुम्हारे घर नई-नई पहुंची उस दिन सारे शहर में तुम्हारे घर की दो गायें और तीन बछड़े ही मुझे सबसे अधिक परिचित और सगे मालूम हुए थे। जब तक नई दुलहिन बनी रही तब तक खुद न खाकर अपना खाना लुके-छिपे उनको खिलाती रही और जब मैं कुछ सयानी हो गई तो गायों के प्रति मेरी प्रकट ममता देखकर मजाक के रिश्तेवाले मेरे गोत्र के बारे में सन्देह प्रकट करने लगे।

मेरी बच्ची जन्म लेते ही मर गई। जाते वक्त मुझे भी संग ले चलने को उसने पुकारा था। वह अगर ज़िन्दा रहती तो शायद वही मेरे जीवन में, जो कुछ और महान और सत्य है, उसे ला देती और मैं मझली बहू से सीधे-सीधे मां बन बैठती—वह मां जो एक परिवार में रहकर भी विश्व-परिवार की होती है। मां होने का दुःख मैंने झेला, लेकिन मां होने की मुक्ति मुझे नहीं मिल सकी।

मुझे याद है, अंग्रेज़ डाक्टर हमारे अन्तःपुर की ड्योढ़ी देखकर विस्मित हो गया था और मेरी सौरी देख, खफा होकर उसने काफी बुरा-भला कहा था। बाहरी ड्योढ़ी में बगीचा है। कमरों में सजावट और असबाबों की कोई कमी नहीं थी। और अन्तःपुर की ड्योढ़ी मानो ऊन के कसीदे की उलटी तरफ थी—वहां न कोई सजावट थी, न सौन्दर्य था और न लाज। उधर बत्तियां टिमटिमाती रहतीं। हवा चोर की तरह दाखिल होती, आंगन का कूड़ा-कचरा हटना ही नहीं चाहता और दीवार और फर्श पर कलंक के चिह्न अक्षय रूप से विराजते रहते। लेकिन डाक्टर ने एक गलती की थी। उसने सोचा था कि यह सब शायद हम लोगों को दिन-रात दुःख दिया करता है। बात बिलकुल उलटी थी। अनादर राख जैसी चीज़ है। वह राख शायद भीतर ही भीतर ताप बनाए रखती है किन्तु बाहर से ताप का पता नहीं लगने देती। जब आत्मसम्मान कम हो जाता है तब अनादर अनुचित

नहीं लगता। इसलिए उसमें कोई वेदना नहीं होती। इसी कारण औरतें दुःख अनुभव करने में भी शर्माती हैं। इसीसे मैं कहती हूं कि औरतों को दुःख झेलना ही होगा—यही अगर तुम लोगों की व्यवस्था हो तो जहां तक सम्भव हो उसे अनादर से रखना ही बेहतर है। आदर से केवल दुःख की व्यथा ही बढ़ती है।

तुम लोगों ने चाहे जिस ढंग से रखा हो, कभी इस बात का ख्याल भी नहीं आया कि दुःख है भी। सौरी में मृत्यु आकर सिरहाने खड़ी हो गई, कोई डर ही नहीं लगा। हमारी ज़िन्दगी ही क्या है कि मौत से डरना होगा ? आदर और यत्न से जिनके प्राण के बन्धन मज़बूत हो चुके हैं मरने से वही हिचकते हैं। उस दिन यदि यम मुझे पकड़कर खींचता तो जिस प्रकार भुरभुरी मिट्टी से जड़-मूल-समेत घास उखड़ आती है, मैं भी बड़ी आसानी से उठ आती। बंगाली औरतें तो बात-बात पर मरना चाहती हैं। लेकिन ऐसे मरने में कौन-सी बहादुरी है ? हम लोगों के लिए मरना इतना आसान है कि मरने में भी शर्म आती है।

सन्ध्या-तारा-सी क्षण-भर के लिए उदित होकर मेरी बच्ची तुरत ही अस्त हो गई। फिर मैं अपने नित्य-कर्म में और गाय-बछड़ों की सेवा में लग गई। जीवन शायद इसी तरह लुढ़कते-लुढ़कते अन्त तक समाप्त हो जाता तो आज तुम्हें यह खत लिखने की ज़रूरत ही न पड़ती। लेकिन हवा मामूली-सा एक बीज उड़ा लाकर पक्के दालान में भी पीपल की एक कोंपल उगा देती है, और अन्त में उसी छोटे-से अंकुर के कारण ईंट-पत्थरों का सीना चाक हो जाता है। हमारी घर-गिरस्ती के पक्के बन्दोबस्त के बीच न जाने कहां से जीवन का एक कण उड़कर आ पड़ा और उसीसे दरार पड़ना शुरू हो गई है।

विधवा मां की मृत्यु के बाद मेरी बड़ी जेठानी की बहिन बिन्दु ने अपने चचेरे भाइयों के अत्याचार से तंग आकर जिस दिन अपनी दीदी के घर आकर आश्रय लिया, उस दिन तुम लोगों ने सोचा कि यह कहां की बला गले आ लगी। मेरी आदत ही मरी ऐसी है, करूं तो करूं भी क्या। जब मैंने देखा कि तुम लोग सब के सब मन ही मन नाखुश हो गए हो तो मेरा मन कमर कसकर उस आश्रयहीन लड़की

की बगल में जा खड़ा हो गया। पराये घर में दूसरों की मर्ज़ी के खिलाफ आकर आश्रय लेना ही कितना बड़ा अपमान था! विवश हो जिसे यह अपमान भी स्वीकार करना पड़ा उसे क्या धक्का देकर एक कोने में फेंका जा सकता है?

फिर मैंने जेठानी की दशा देखी। उन्होंने मारे हमदर्दी के अपनी बहिन को अपने पास बुलाया था। लेकिन जब उन्होंने देखा कि उनके पति का इसमें समर्थन नहीं है तो वे भी ऐसा भाव दिखाने लगीं मानो वह बहुत बड़ी बला हो और उसे दूर कर देने से ही उन्हें आराम मिले। इस अनाथा बहिन के प्रति वे जी खोलकर ज़रा स्नेह प्रकट करें —इतनी भी हिम्मत उन्हें न हुई। वे पतिव्रता थीं।

उनका यह संकट देखकर मेरा मन और भी दुखित हो उठा। मैंने देखा कि उन्होंने सबको विशेष रूप से दिखाते हुए बिन्दु के खाने-पहनने की ऐसी रूखी-सूखी व्यवस्था की और हर प्रकार की सेवा-टहल के काम में उसे इस तरह से लगा दिया कि मुझे केवल दुःख ही नहीं, लज्जा भी होने लगी। वे सभीसे यह प्रमाणित करने लग गईं कि हमारी गिरस्ती में बिन्दु बड़े सस्ते में मिल गई है। उससे काम बहुत निकलता है और उसकी तुलना में उसपर खर्च कम पड़ता है।

हमारी बड़ी जेठानी के मायकेवालों के पास सिवा एक उच्च वंश के दूसरी कोई चीज़ नहीं थी—न रूप था और न रुपया। हमारे श्वसुरजी की कितनी विनतियां करके जेठानीजी की शादी तुम्हारे घर में हुई थी वह तो तुम्हें मालूम ही है। जेठानीजी भी अपने ब्याह को बराबर इस वंश के प्रति एक संगीन अपराध के रूप में समझती रही हैं। इसीलिए हर मामले में वे अपने को भरसक संकुचित कर तुम लोगों के घर में बहुत कम जगह घेरे हुए रहती हैं। लेकिन उनके इस अच्छे दृष्टान्त से हम लोगों पर बड़ी मुसीबत आ पड़ी। हर ओर से मैं अपने को इतने असम्भव रूप से छोटा नहीं कर सकती थी। मैं जिसे भला समझती हूं—किसी दूसरे के लिहाज से उसे बुरा मान लेना मेरा काम नहीं। तुम्हें इसके बहुत-से प्रमाण मिल चुके हैं।

बिन्दु को मैंने अपने कमरे में खींच लिया। दीदी ने कहा, "अब मझली बहू इस गरीब घर की लड़की को बरबाद कर देंगी।" वे हर-

एक से इस तरह शिकायत करने लगीं मानो मैंने कोई बड़ी मुसीबत खड़ी कर दी हो। किन्तु मैं निश्चित रूप से जानती हूं कि वे मन ही मन खुश हो निश्चिन्त हो गईं। अब दोष का सारा बोझा मुझपर आ गया, जेठानीजी अपनी बहिन के प्रति स्वयं तो स्नेह नहीं दिखा सकती थीं सो मुझसे वह स्नेह दिलाकर उनका मन हलका हो गया। मेरी बड़ी जेठानी अपनी बहिन की उम्र से दो-चार साल घटाने की कोशिश करती थीं। लेकिन उसकी उम्र चौदह से कम नहीं, यह बात छिपकर कहने में कोई हर्ज न था। तुम तो जानते ही हो कि वह शक्ल-सूरत से इतनी बुरी थी कि गिरकर अगर वह अपना सिर फोड़ लेती तो लोग कमरे के फर्श के लिए ही फिक्र करने लगते। इसलिए माता-पिता के न होने से उसका ब्याह करने के लिए कोई था नहीं, और उससे ब्याह करने का मनोबल था भी कितनों में?

बिन्दु बहुत ही डरती-सहमती मेरे पास आई, मानो उसका स्पर्श लगने से मैं उसे बरदाश्त न कर सकूंगी। संसार में मानो उसके जन्म लेने की कोई शर्त न थी इस तरह वह सबसे कतराकर, सबकी निगाह बचाकर चलती थी। उसके मायके में उसके चचेरे भाइयों ने उसके लिए इतनी-सी भी जगह नहीं छोड़नी चाही जितनी में एक गैर-ज़रूरी चीज़ पड़ी रह सकती है। गैर-ज़रूरी कूड़ा-कचरा घर के इर्द-गिर्द अनायास ही जगह पा सकता है क्योंकि लोग उसे भूल जाते हैं। लेकिन अनावश्यक औरत एक तो अनावश्यक होती है तिस-पर उसे भूलना भी मुश्किल है, इसलिए घूरे में भी उसके लिए कोई जगह नहीं है। हालांकि बिन्दु के चचेरे भाई संसार में बहुत आवश्यक वस्तु हों ऐसी बात भी नहीं। लेकिन वे लोग बड़े मज़े में हैं।

इसीसे, जब मैं बिन्दु को अपने घर में बुला लाई तो उसका दिल कांपने लगा। उसका डर देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। बड़े लाड़ से, कोशिश से मैंने उसे यह बात समझाने की कोशिश की कि मेरे कमरे में उसके लिए थोड़ी-सी जगह है।

लेकिन मेरा कमरा तो केवल मेरा ही कमरा न था। इसलिए मेरा काम कुछ आसान न हुआ। दो-चार दिन मेरे पास रहने के बाद उसके बदन पर लाल-लाल दाने से निकल आए। शायद वे अमहौरी

होंगी या और कुछ होगा, लेकिन तुम लोगों ने कहा कि वह चेचक है। क्योंकि वह बिन्दु थी। तुम्हारे मुहल्ले के एक अनाड़ी डाक्टर ने आकर कहा कि दो-एक दिन बीतने के बाद ही कुछ कहा जा सकता है। किन्तु इन दो-एक दिन का सब्र करनेवाला भी कौन था! इधर बिन्दु तो अपनी बीमारी की शर्म के मारे ही अधमरी हो गई। मैंने कहा, चेचक हो होने दो, मैं उसे अपनी सौरीवाली कोठरी में रखूंगी, किसी-को कुछ भी करना-धरना न होगा। इसपर घर के सब लोग मुझपर कुपित हो गए, यहां तक कि बिन्दु की दीदी भी जब बनावटी नाराज़गी दिखाकर इस बदकिस्मत लड़की को अस्पताल भेजने का प्रस्ताव करने लगी तो उसके बदन के लाल-लाल दाग सब गायब हो गए। मैंने देखा कि इससे तुम लोग और भी बेचैन हो उठे। बोले, बेशक चेचक बैठ गई। क्योंकि वह बिन्दु थी।

अनादर से पले हुए शरीर में एक बहुत बड़ा गुण यह होता है कि वह अजर-अमर बन जाता है। एक तो बीमारी होना ही नहीं चाहती और मरने की सभी बड़ी सड़कें उसके लिए एकदम बन्द रहती हैं। बीमारी उससे बस मज़ाक-भर कर गई, कुछ बिगाड़ न सकी। लेकिन यह साफ समझ में आ गया कि संसार में सबसे अधिक असमर्थ व्यक्ति को आश्रय देना सबसे कठिन कार्य है। आश्रय की ज़रूरत जिसे सबसे अधिक है, आश्रय पाने के मार्ग में बाधाएं भी उस-के लिए सबसे अधिक हैं।

जब मेरे बारे में बिन्दु का भय जाता रहा तो उसके सिर पर एक और बला चढ़ बैठी। वह मुझसे इतना प्यार करने लगी कि मुझे डर लगने लगा। प्यार की ऐसी मूर्ति मैंने संसार में कभी न देखी थी। किताबों में पढ़ा ज़रूर था लेकिन वह प्रेम स्त्री और पुरुष के बीच का था। बहुत दिनों से ऐसी कोई घटना नहीं हुई जिससे मुझे याद पड़े कि मुझमें रूप है—इतने दिनों बाद यह बदसूरत लड़की उस रूप के पीछे पड़ गई। मेरा मुख देख-देखकर उसकी आंखों की प्यास नहीं घटती थी। कहती, "दीदी, तुम्हारा यह मुखड़ा मेरे सिवा और किसीकी निगाह में ही नहीं पड़ा।" जिस दिन मैं अपने बाल खुद संवार लेती उस दिन वह बहुत रूठ जाती। मेरे बालों का बोझ

दोनों हाथों से हिलाने-डुलाने में उसे बड़ा आनन्द आता। कभी-कभी दावत-न्योते में जाने के अलावा मुझे सजने-संवरने की जरूरत ही न थी। लेकिन बिन्दु मुझे परेशान कर रोज ही थोड़ा-बहुत सजाना चाहती। यह लड़की मुझे पाकर मानो एकदम पागल हो उठी।

तुम्हारे अन्तःपुर की ड्योढ़ी में कहीं भी छटांक-भर जमीन खाली नहीं है कि पेड़-पौधे उगें। उत्तरी दीवार से सटकर नाले के किनारे एक लोध का पेड़ किसी तरह निकल आया था। जब देखती थी कि लोध के नये पत्ते लालोलाल हो उठे हैं उस दिन जान पाती थी कि धरातल पर वसन्त आ गया है। हमारी घर-गृहस्थी में भी उस अनाहृत लड़की का चित्त भी जिस दिन सम्पूर्ण रूप से ऐसा ही रंगीन हो उठता उस दिन मैं समझ जाती कि हृदय की दुनिया में भी वसन्त की एक हवा चलती है, और वह किसी स्वर्ग से आती है, गली के मोड़ से नहीं।

बिन्दु के प्यार के दुःसह वेग ने मुझे अस्थिर कर दिया था। किसी-किसी दिन मुझे उसपर गुस्सा आने लगता, इस बात को तो मैं मानती हूं, किन्तु उसके इस प्यार में से मैंने अपना एक स्वरूप देखा जिसे अपने जीवन में कभी पहले न देखा था। वह मेरा खिला हुआ सौन्दर्य था।

इधर, बिन्दु जैसी लड़की को मैं जो इतने लाड़-प्यार से रखती, स्नेह करती थी यह तुम लोगों की नज़रों में महज़ एक ज्यादती मालूम होने लगी। इसके पीछे नाक सिकोड़ने और दांत किटकिटाने का कोई अन्त न था। जिस दिन मेरे कमरे से बाज़ूबन्द चोरी हो गए, उस दिन तुम लोगों को इस बात का आभास देते हुए शर्म न आई कि इस चोरी में बिन्दु का हाथ था। जब स्वदेशी-आन्दोलन के हंगामे में लोगों के घरों की तलाशियां होने लगीं तब तुम लोग अनायास ही सन्देह कर बैठे कि बिन्दु पुलिस की जासूस है। इस बारे में उसके खिलाफ दूसरा कोई प्रमाण नहीं था, प्रमाण केवल इतना ही था कि वह बिन्दु है।

तुम्हारे घर की नौकरानियां उसका कोई काम करने से एतराज़ करतीं और मैं अगर उनमें से किसीको बिन्दु का काम कर देने को

कहती तो बिन्दु भी मारे संकोच के सिकुड़कर सिमट जाती। इन्हीं सब कारणों से, उसके लिए मेरा खर्च बढ़ गया। मैंने खास तौर से एक अलग नौकरानी रख ली। यह तुम लोगों को अच्छा न लगा। बिन्दु को मैं जो कपड़े पहनने को देती उन्हें देखकर तुम इतने खफा हो गए थे कि मेरा हाथ-खर्च देना तुमने बन्द कर दिया। उसके अगले दिन से मैं सवा रुपये मूल्य के जोड़े की मिलवाली मोटी धोती पहनने लगी। और जब मति की मां मेरी जूठी थाली लेने आई तो उसे मैंने मना कर दिया। खुद आंगन के बम्बे पर जाकर, थाली की जूठन बछड़े को खिलाकर, मैंने अपनी थाली मांजना शुरू कर दिया। एक दिन अचानक यह दृश्य देखकर तुम बहुत खुश नहीं हुए। मुझे खुश किए बिना ही तुम लोगों का काम चल सकता है और तुम लोगों को खुश किए बिना कोई उपाय नहीं, इतनी बुद्धि मुझे आज तक नहीं आई।

दूसरी ओर, ज्यों-ज्यों तुम लोगों का गुस्सा बढ़ने लगा, त्यों-त्यों बिन्दु की उमर भी बढ़ने लगी। इस स्वाभाविक बात पर तुम लोग अस्वाभाविक रूप से चंचल हो उठे। एक बात सोचकर मैं आश्चर्य करती हूं कि तुम लोगों ने ज़ोर-ज़बरदस्ती बिन्दु को घर से निकाल क्यों न दिया। मैं खूब समझती हूं कि तुम लोग मुझसे मन ही मन डरते हो। विधाता ने मुझे जो बुद्धि दी थी, मन हा मन उसकी इज्ज़त किए बिना तुम लोगों से रहा नहीं जाता।

अन्त में, जब बिन्दु को अपनी शक्ति से न निकाल सके तब तुम लोगों ने प्रजापति देव की शरण ली। बिन्दु के लिए वर तय किया गया। जेठानी ने कहा, "जान बची। काली माई ने हमारे वंश की लाज रख ली।"

वर कैसा था मुझे नहीं मालूम। तुम्हीं लोगों के मुंह सुना कि सब मामले में ही अच्छा है। बिन्दु मेरा पैर पकड़कर रोने लगी, बोली, "दीदी, मेरी शादी की क्या ज़रूरत थी?"

मैंने उसे बहुत समझाते हुए कहा, "बिन्दु, तू मत डर—सुना है कि तेरा वर अच्छा ही है।"

बिन्दु बोली, "दूल्हा अगर अच्छा हो तो मुझे क्यों पसन्द करेगा!

मुझमें है भी क्या !"

वरपक्षवालों ने बिन्दु को देखने आने का ज़िक्र ही न किया। जेठानीजी इससे बहुत निश्चिन्त हुईं।

लेकिन, बिन्दु का रोना रात-दिन में किसी क्षण रुकना ही नहीं चाहता। उसे कितनी ज़बर्दस्त तकलीफ थी सो मैं जानती थी। बिन्दु के लिए घर में मैंने बहुत लड़ाई लड़ी, लेकिन उसकी शादी रोक दी जाए यह कहने की हिम्मत मुझे नहीं पड़ी। किस बूते पर कहूं ? मैं अगर मर जाऊं तो उसकी क्या दशा होगी ?

एक तो लड़की, फिर रंग की काली—किसके घर चली, वहां उसकी क्या दशा होगी, इस बारे में न सोचना ही बेहतर है। सोचते हुए भी प्राण कांप उठते हैं।

बिन्दु बोली, "दीदी, शादी के अब पांच दिन रह गए हैं, क्या इस बीच मेरी मौत नहीं हो सकती ?"

मैंने उसे ज़ोर से घुड़की लगाई, लेकिन अन्तर्यामी ही जानते हैं कि अगर स्वाभाविक रूप से उसकी मृत्यु हो जाती तो मुझे आराम मिलता।

विवाह से एक दिन पहले बिन्दु अपनी दीदी से जाकर बोली, "दीदी, मैं तुम्हारी गोशाला में पड़ी रहूंगी, मुझसे जो कहोगी सो करूंगी, मैं तुम्हारे पांव पड़ती हूं, दीदी, मुझे इस तरह दूर मत फेंको।"

कुछ दिनों से दीदी छिपकर आंसू बहा रही थी। उस दिन भी बहाए। लेकिन दिल ही तो सब कुछ नहीं है, शास्त्र भी तो कुछ है। उन्होंने कहा, "तू तो जानती ही है बिन्दि, पति ही नारी का सब कुछ होता है—उसकी गति, उसकी मुक्ति, उसका सब कुछ। भाग्य में अगर दुःख लिखा हुआ है तो उसे कौन टाल सकता है !"

असल बात यह थी कि किसी ओर भी कोई रास्ता नहीं था—बिन्दु को शादी करनी ही होगी, बाद में जो होनहार है होता रहेगा।

मैंने यह चाहा था कि शादी हमारे घर पर ही हो। लेकिन तुम लोगों ने कह दिया कि शादी दूल्हा के घर पर ही होगी—यही उनके वंश की प्रथा है।

मैं समझ गई कि बिन्दु के विवाह में अगर तुम्हारा कुछ खर्च हो जाए तो वह तुम्हारे कुलदेवता के लिए असहनीय होगा। इसलिए मुझे खामोश हो जाना पड़ा। लेकिन, एक बात तुम लोगों में किसी-को नहीं मालूम। जेठानी को बताने की इच्छा थी लेकिन नहीं बताया क्योंकि सुनने पर वह डर के मारे ही अधमरी हो जाती। मैंने अपने कुछ गहने तुम सबसे छिपाकर बिन्दु को पहना दिए थे। शायद वे जेठानीजी की नज़रों में पड़े हों, लेकिन देखकर भी उन्होंने अनदेखा कर दिया था। दुहाई धर्म की, इसके लिए तुम लोग उन्हें क्षमा कर देना।

जाने से पहले बिन्दु मुझसे लिपट गई और बोली, "दीदी, तुम लोगों ने मुझे आखिर त्याग ही दिया?"

मैंने कहा, "नहीं बिन्दि, तेरी कैसी भी दशा क्यों न हो, मैं तुझे अन्त तक नहीं छोड़ूंगी।"

तीन दिन बीत गए। तुम्हारे ताल्लुके की एक रिआया ने तुम्हें एक भेड़ भेंट की थी। मैंने उसे तुम्हारे पेट की आग से बचाकर नीचे की मंज़िल में कोयला रखने की कोठरी के एक कोने में शरण दी थी। सवेरे उठकर मैं उसे अपने हाथों से दाना खिला आया करती थी। तुम्हारे नौकरों पर दो-एक दिन यह काम सौंपकर देखा था। लेकिन देखा कि उनमें उसे खिलाने के बजाय उसीको खा जाने की ओर झुकाव ज़्यादा है।

उस दिन सवेरे उस कोठरी में घुसकर मैंने देखा कि बिन्दु एक कोने में सिकुड़ी-सिमटी बैठी है।

मुझे देखते ही वह मेरे पांव पकड़कर चुपचाप सिसकने लगी।

बिन्दु का पति पागल है।

"तू सच कह रही है बिन्दि?"

"इतना बड़ा झूठ तुमसे मैं क्या कह सकती हूं दीदी? वे पागल हैं। श्वसुरजी की इस ब्याह में राय नहीं थी। लेकिन वे मेरी सास से यमराज की तरह डरते हैं। वे ब्याह से पहले ही काशीजी चले गए। सास ने अपनी ज़िद से लड़के की शादी कर दी।"

मैं वहीं कोयलों के ढेर पर बैठ गई। औरतें औरतों पर दया

नहीं करतीं। कहती, "औरत का क्या, है तो औरत ही। लड़का पागल हुआ तो क्या, आखिर है तो मर्द ही।"

बिन्दु का पति यों पागल नहीं लगता। लेकिन किसी-किसी दिन वह इतना बौरा जाता था कि उसे कोठरी में ताला बन्द कर रखना पड़ता था। ब्याह की रात को वह ठीक था। लेकिन रात जागना आदि उपद्रवों से दूसरे ही दिन उसकी हालत बिगड़ गई और दिमाग एकदम खराब हो गया। बिन्दु दोपहर को पीतल की थाली में भात खाने बैठी थी कि अचानक उसके पति ने भात-समेत थाली आंगन में फेंक दी। अचानक उसे ऐसा ख्याल हुआ कि बिन्दु स्वयं रानी रासमणि है; नौकर ने उनकी सोने की थाली चुराकर अपनी पीतल की थाली में खाना परोस दिया है। यही उसके गुस्से का कारण था। बिन्दु तो डर से अधमरी हो गई। तीसरी रात को जब सास ने उसे अपने पति के कमरे में सोने के लिए कहा तो उसकी जान सूख गई। पर सास भी भयानक थी, गुस्सा आने पर उसे होश नहीं रहता। असल में वह भी पागल है। पर पूरी-पूरी नहीं और इसलिए वह और भी भयानक है। बिन्दु को कमरे में जाना पड़ा। पतिदेव उस रात को ठंडे थे। लेकिन डर से बिन्दु के शरीर को मानो लकवा मार गया। बहुत रात बीते पति के सो जाने के बाद वह बहुत तरकीब भिड़ाकर भाग आई है जिसका विस्तृत वर्णन देने की ज़रूरत नहीं।

नफरत और गुस्से से मेरी देह-भर में जलन होने लगी। मैंने कहा, "ऐसे धोखे की शादी, शादी ही नहीं। बिन्दु, तू पहले जैसी थी उसी तरह मेरे पास रह, देखती हूं कि कौन तुझे ले जाता है।"

तुम लोगों ने कहा, "बिन्दु झूठ कह रही है।"

मैंने कहा, "वह कभी झूठ नहीं बोलती।"

तुम लोगों ने कहा, "तुमने कैसे जाना?"

मैंने कहा, "मैं निश्चित रूप से जानती हूं।"

तुम लोगों ने डराया, "बिन्दु के ससुरालवाले पुलिस केस कर दें तो बड़ी परेशानी होगी।"

मैंने कहा, "धोखे से पागल के साथ उसका ब्याह किया गया है—अदालत क्या यह बात नहीं सुनेगी?"

तुम लोगों ने कहा, "तो क्या इस मामले को लेकर अदालत-कचहरी में जाना होगा। क्यों, इसमें हमारी क्या ज़िम्मेदारी है ?"

मैंने कहा, "मैं अपने गहने बेचकर जो कर सकूंगी, करूंगी।"

तुम लोगों ने कहा, "तो क्या वकील के घर दौड़ोगी ?"

इस सवाल का कोई जवाब नहीं था ? माथा ठोककर रह जाने के अलावा मैं कर क्या सकती थी !

उधर बिन्दु की ससुराल से उसके जेठ आकर बाहर शोर मचा रहे थे। उसने कहा कि वे थाने में खबर देंगे।

मेरे अन्दर कौन-सी शक्ति है मुझे नहीं मालूम, लेकिन कसाई के हाथ से जान लेकर जो गाय भागकर मेरी शरण में आई है उसे पुलिस की धमकी से फिर कसाई के हाथ सौंप देना होगा, यह बात मेरा मन बिलकुल न मान सका। मैंने चुनौती दी, "देने दो उसे थाने में खबर।"

इतना कहने के बाद मैंने सोचा कि इसी दम बिन्दु को अपने सोने के कमरे में ले जाकर ताला बन्द कर बैठी रहूं। देखा तो बिन्दु लापता हो गई थी। तुम लोगों के साथ जब मेरी बहस चल रही थी, तब बिन्दु ने बाहर जाकर स्वयं अपने जेठ के आगे आत्मसमर्पण कर दिया था। वह समझ गई थी कि उसके इस घर में रहने से, वह मुझे बड़ी विपत्ति में डाल देगी।

भागकर बीच में आ क्या गई, बिन्दु ने अपनी मुसीबत और तकलीफ दुगुनी बढ़ा ली। उसकी सास का कहना था कि भला उसका लड़का कहीं उसे खा थोड़े ही डालता ! बुरे पतियों का दृष्टान्त संसार में दुर्लभ नहीं, उन लोगों के साथ तुलना की जाए तो उसका बेटा सोने के चांद-सा सुशील है।

मेरी बड़ी जेठानी ने कहा, "उसकी फूटी किस्मत ही ऐसी है, उसपर अफसोस करने से क्या फायदा ! पति चाहे पागल हो चाहे दिमाग खराब हो, है तो पति ही।"

तुम लोगों के मन में वैसी सती नारियों का दृष्टान्त जाग रहा था जिन्होंने स्वयं अपने कोढ़ी पति को गोद में उठाकर वेश्या के घर पहुंचाया था। संसार में सबसे नीच कायरता की इस कहानी का

प्रचार करते हुए तुम पुरुषों को ज़रा भी संकोच का बोध नहीं हुआ। इसीलिए मानव-जन्म लेकर भी तुम लोग बिन्दु के आचरण पर क्रोध प्रकट कर सके; तुम्हारा सिर शर्म से झुका नहीं। बिन्दु के लिए मेरी छाती फटने लगी, लेकिन तुम लोगों के लिए मेरी लज्जा की सीमा न रही। एक तो मैं देहाती लड़की, तिसपर तुम्हारे घर में ब्याही गई—पता नहीं भगवान ने किस बहाने मुझमें ऐसी बुद्धि दे दी। तुम लोगों की ये धार्मिक बातें मुझसे किसी तरह भी सही नहीं गईं।

मैं निश्चित रूप से जानती थी कि मर जाने पर भी बिन्दु अब हमारे घर न आएगी। लेकिन, मैंने जो उसे ब्याह के पहले आशा दी थी कि अन्त तक मैं उसे नहीं त्यागूंगी। मेरा छोटा भाई शरत् कलकत्ता में रहकर कालेज में पढ़ता था। तुम लोग जानते ही होगे कि हर प्रकार का स्वयंसेवक का काम करने में ही उसे उत्साह था—चाहे वह ताऊन के समय मुहल्ले के चूहे मारने का हो, चाहे दामोदर की बाढ़ में सहायता करने जाने का हो—और इस कारण दो-दो बार एफ० ए० की परीक्षा में फेल होने के बाद भी वह कुछ दबा नहीं। उसे बुलाकर मैंने कहा, "तुझे ऐसा इन्तज़ाम करना पड़ेगा शरत् कि मुझे बिन्दु की खबर मिलती रहे। बिन्दु मुझे खत लिखने की हिम्मत नहीं करेगी और लिखे भी तो मुझे वह खत मिलेगा नहीं।

इस काम के बजाय अगर मैं उससे कहती कि बिन्दु की ससुराल में डाका डालकर उसे उठा ला या उसके पागल पति का सिर फोड़ आ, तो वह ज़्यादा खुश होता।

शरत् के साथ मैं बातें कर रही थी कि इतने में तुम आ गए और बोले, "फिर यह क्या हंगामा शुरू कर दिया?"

मैंने कहा, "वही जो सबसे शुरू में किया था। हंगामा तो तभी से चालू है जब से तुम्हारे घर आई हूं। लेकिन वह करतूत तो तुम्हीं लोगों की है।"

तुमने पूछा, "बिन्दु को फिर लाकर कहां छिपा रखा है?"

मैंने कहा, "बिन्दु अगर आती तो मैं ज़रूर उसे लाकर छिपा रखती। लेकिन डरो मत, वह आएगी नहीं।"

शरत् को मेरे पास देखकर तुम्हारा सन्देह और भी बढ़ गया।

मुझे मालूम था कि शरत् इस घर में आए यह तुम्हें पसन्द नहीं। तुम लोगों को डर था कि उसपर पुलिस की निगाह है—किसी दिन किसी राजनीतिक मामले में फंसकर तुम लोगों को भी लपेट में न ले; इसीलिए भैयादूज का टीका भी मैं दूसरों के हाथ भेजती थी, मैं उसे तुम्हारे घर नहीं बुलाती थी।

तुमसे ही सुना कि बिन्दु फिर भाग गई है और उसके जेठ तुम्हारे घर पर पता लगाने आए थे। सुनकर मेरे हृदय में शूल-सा चुभ गया। अभागिन को कितना असह्य कष्ट होगा सो समझ गई, पर कुछ करने का कोई उपाय नहीं था।

शरत् खबर लेने दौड़ा। शाम को लौटकर उसने मुझसे कहा, "बिन्दु अपने चचेरे भाइयों के पास गई थी, लेकिन वे लोग उसपर बेहद नाराज़ हो गए और तभी उसे ससुराल पहुंचा गए। इसमें उनका जो खर्च किराया वगैरह में हो गया था उसका गुस्सा अभी तक उतरा नहीं है।"

तुम्हारी चाची श्रीक्षेत्र पुरी तीर्थ करने जाते समय तुम्हारे घर आकर ठहरीं। मैंने तुम लोगों से कहा, "मैं भी जाऊंगी।"

धर्म-कर्म में सहसा मेरी ऐसी प्रवृत्ति देखकर तुम लोग इतने खुश हो गए कि तुम लोगों ने बिलकुल कोई एतराज़ न किया। यह बात भी शायद तुम्हारे दिमाग में रही हो कि इस वक्त कलकत्ता में रहकर शायद मैं बिन्दु के बारे में कोई नया बखेड़ा न खड़ा कर दूं। मुझे लेकर तुम लोगों की बड़ी मुसीबत थी।

बुधवार को जाना था और रविवार को ये सब बातें तय हुईं। मैंने शरत् को बुलवाकर कहा, "जैसे भी हो, बुधवार के रोज़ बिन्दु को पुरीवाली गाड़ी में तुझे सवार करा जाना होगा।"

शरत् का चेहरा खिल उठा, उसने कहा, "फिक्र मत करो दीदी, मैं उसे ट्रेन पर सवार कर पुरी तक पहुंचा आऊंगा—फोकट में जगन्नाथजी का दर्शन हो जाएगा।"

उसी दिन शाम को शरत् फिर आया। उसका चेहरा देखकर ही मेरा दिल बैठ गया। मैंने पूछा, "क्यों शरत्? काम नहीं बना न!"

उसने कहा, "नहीं।"

मैंने कहा, "उसे राजी नहीं करा पाए क्या ?"

उसने कहा, "उसकी ज़रूरत भी अब नहीं। कल रात को उसने कपड़े में आग लगाकर आत्महत्या कर ली है। उस घर के जिस लड़के से मैंने दोस्ती की थी उसने कहा कि वह तुम्हारे नाम एक चिट्ठी छोड़ गई थी पर उन लोगों ने वह चिट्ठी भी जला दी है।"

चलो, शान्ति हुई !

देश-भर के लोग खफा हो गए। कहने लगे, "कपड़े में आग लगाकर मरना भी औरतों का एक फैशन हो गया है।"

तुम लोगों ने कहा, "यह सब नाटक खेला गया।" हो सकता है। लेकिन नाटक का खेल केवल औरतों की साड़ियों पर क्यों होता है, वीर पुरुषों की धोतियों पर क्यों नहीं होता, यह भी तो सोचकर देखना चाहिए।

बिन्दि का जला भाग्य भी खूब है ! जब तक ज़िन्दा रही, रूप-गुण किसी बात में उसे यश न मिला। मरते वक्त भी कुछ सोच-विचारकर नये ढंग से मरती कि देश के लोग तालियां बजाते सो भी उसके दिमाग में न आया। मरकर भी वह लोगों को नाराज़ कर गई।

दीदी कमरे में छिपकर रोती रहीं। लेकिन उस रोने में एक तसल्ली थी। जो कुछ भी क्यों न हुआ हो सबकी रक्षा हो गई। मर ही तो गई है और तो कुछ नहीं हुआ, ज़िन्दा रहती तो न जाने क्या-क्या होता रहता।

मैं तीर्थ आई हुई हूं। बिन्दु को आने की ज़रूरत नहीं रही पर मुझे ज़रूरत थी।

लोग जिसे दुःख कहकर जानते हैं तुम्हारे घर में मुझे वैसा कोई दुःख नहीं था। तुम्हारे घर में खाने-पीने की कमी नहीं थी। तुम्हारे भाई साहब का चालचलन चाहे जैसा हो, पर तुम्हारे चालचलन में ऐसा कोई दोष नहीं था जिसके लिए भगवान को कोसा जा सकता हो। अगर तुम्हारा चरित्र अपने भाई साहब की तरह का ही होता, तो भी मेरे दिन ऐसे ही बीत जाते और अपनी सती-सतवंती जेठानी की तरह मैं भी पतिदेव को दोष न देकर विश्वदेवता को ही बुरा-भला

कहती। इसलिए तुम लोगों के खिलाफ मैं किसी तरह की शिकायत पेश करना नहीं चाहती—यह चिट्ठी मैंने इस उद्देश्य से नहीं लिखी।

लेकिन, मैं अब तुम्हारे उस सत्ताइस नम्बर माखन बड़ाल की गलीवाले मकान में नहीं लौटूंगी। मैंने बिन्दु को देखा है। संसार में नारी का परिचय क्या है यह मुझे मालूम हो गया है। अब मुझे कुछ ज़रूरत नहीं।

इसके बाद यह भी देखा है कि वह औरत ज़रूर है पर भगवान ने उसे नहीं त्यागा। उसपर तुम लोगों का कितना भी ज़ोर क्यों न हो, उस ज़ोर का भी अन्त था। वह अपने अभागे मानव-जन्म से भी महान थी। तुम्हारे पैर इतने लम्बे नहीं हैं कि तुम लोग अपनी इच्छा के अनुसार उसके जीवन को हमेशा के लिए बदस्तूर पैरों के नीचे दबाए रहो। मृत्यु तुम लोगों से बड़ी है। उस मृत्यु में वह महान है—वहां बिन्दु केवल बंगाली घर की एक लड़की-भर नहीं है, वह केवल चचेरे भाइयों की बहिन-भर नहीं है, अपरिचित पागल पति की प्रवंचिता पत्नी-मात्र नहीं है। वहां वह अनन्त है।

मृत्यु की वह बांसुरी जिस दिन उस बालिका के भग्न हृदय के भीतर से निकलकर मेरे जीवन के जमुना-तट पर बज उठी तो पहले-पहल मेरी छाती में मानो तीर चुभ गया। भगवान से मैंने पूछा, "तुम्हारे संसार में जो सबसे ज़्यादा तुच्छ है वही सबसे ज़्यादा कठिन क्यों है ? इस गली में चारों ओर चहारदीवारी से घिरा हुआ आनन्द-शून्य वातावरण का यह बहुत ही मामूली-सा बुल्ला इतनी भयंकर बाधा क्यों बन गया ? तुम्हारा विश्व अपनी छः ऋतुओं का सुधापात्र लेकर कैसे भी क्यों न पुकारे, मैं इस ज़नानी ड्योढ़ी की दहलीज़ को क्षण-भर के लिए क्यों नहीं लांघ सकती। तुम्हार ऐसे भुवन में मेरा ऐसा जीवन लेकर ईंट-पत्थर की बनी तुच्छ ओट में रहकर क्या तिल-तिल करके मुझे मरना होगा ? मेरे हर रोज़ की यह जीवन-यात्रा कितनी तुच्छ है ! यहां के बंधे हुए नियम, बंधे हुए अभ्यास, बंधी हुई बोली, बांधकर मारना—कितना तुच्छ है ! लेकिन अन्त में क्या इसी दीनता के नाग-पाश बन्धन की जीत होगी ? और तुम्हारे अपने हाथों की रचना—उस आनन्दलोक की हार होगी ?

लेकिन मृत्यु की बांसुरी बजने लगी। कहां रह गई वह राज की बनाई हुई दीवार और कहां रह गया तुम्हारे गढ़े हुए घरेलू कानूनों से बना कांटों का बाड़ा। कौन-सा दुःख या अपमान है जो मनुष्य को बन्दी बनाकर रख सकता है! वह देखो, मृत्यु के हाथों में ज़िन्दगी का झंडा फहरा रहा है! अरे मझली बहू तुझे कोई डर नहीं है। तेरी मझली बहूवाली कैंचुली दूर होने में क्षण-भर भी नहीं लगेगा।

तुम लोगों की गली से मैं अब नहीं डरती हूं। मेरे सामने आज नीला समुद्र है और सिर पर असाढ़ के बादल।

तुम लोगों ने रूढ़ियों के अन्धकार से मुझे ढक रखा था। क्षण-भर के लिए उस आवरण के एक छेद से बिन्दु मुझे देख गई थी। उसी लड़की ने अपनी मृत्यु के द्वारा उस आवरण को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। आज बाहर आकर मैंने देखा है कि ऐसी जगह नहीं जहां मेरी गरिमा समा सके। मेरा यह अनादृत रूप जिसकी आंखों को भाया है वही 'सुन्दर' मुझे सारे आकाश के नेत्र से देख रहे हैं। अब तो तुम्हारी मझली बहू मरी।

तुम सोच रहे होगे कि मैं मरने जा रही हूं—घबराओ मत, इतना पुराना मज़ाक मैं तुम्हारे साथ नहीं करूंगी। मीराबाई भी तो मेरी तरह औरत ही थी—उसकी ज़ंजीरें भी तो कम भारी नहीं थीं, किन्तु उसे जीने के लिए कहीं मरना तो नहीं पड़ा। मीराबाई ने अपने गाने में लिखा है :

> भाई छोड्या, बन्धु छोड्या, छोड्या सगा सोई,
> 'मीरा' राम लगण लागी, होगी होय सो होई।

यह लगन का लगा रहना ही तो जीवित रहना है।

मैं भी जीऊंगी। अब मैं जी गई।

तुम्हारे चरणों के आश्रय से बिछुड़ी
मृणाल

रचनाकाल :
श्रावण १३२१ बंगाब्द
सन् १९१४ ई०

८ | क्षुधित पाषाण

अपने एक रिश्तेदार के साथ मैं दुर्गापूजा की छुट्टी में देशाटन समाप्त कर कलकत्ता लौट रहा था कि रेलगाड़ी में उस बाबू से भेंट हो गई। उसका पहनावा देखकर मुझे पहले-पहल भ्रम हुआ था कि वह पछाहीं मुसलमान है। उसकी बातचीत सुनकर और भी उलझन में पड़ गया। दुनिया के हर मामले में ही वह इस ढंग से बातें करने लगा मानो उसीके साथ सलाह-मशविरा कर विश्व-विधाता हर काम किया करते हैं। सारे संसार में भीतर ही भीतर ऐसी-ऐसी अश्रुतपूर्व गंभीर घटनाएं घट रही थीं,—रूसी इतना आगे बढ़ गए हैं, अंग्रेज़ों के ऐसे-ऐसे छिपे मनसूबे हैं, देशी राजाओं में एक खिचड़ी-सी पक रही है—इन सभीके बारे में कुछ भी न जानकर हम लोग सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त बने हुए थे। हमारे नवपरिचित मित्र ने मुस्कराकर कहा, "ऐ होरेशियो, स्वर्ग और धरती पर केवल उतनी ही घटनाएं घटित नहीं होतीं जितनी अखबारों में छापी जाती हैं। उनकी संख्या कहीं अधिक होती है।"

हम लोग पहली बार घर छोड़कर बाहर निकले थे, इसलिए उस आदमी का हाव-भाव देखकर हम लोग दंग रह गए। मामूली-मामूली बातों के सिलसिले में वह विज्ञान की चर्चा करता, तो कभी वेदों की व्याख्या करने लगता और फिर कभी फारसी के शेर कहने लगता। विज्ञान, वेद और फारसी में हम लोगों को कोई दखल नहीं था। इसलिए उसके प्रति हमारी भक्ति लगातार बढ़ती ही रही। यहां तक कि मेरे थियोसफिस्ट (अध्यात्मवादी) रिश्तेदार के मन में यह दृढ़ विश्वास उपजा कि हमारे इस सहयात्री के साथ किसी अलौकिक

मामले का कोई एक सम्बन्ध है, कोई एक अनोखा मैग्नेटिज्म या दैवी-शक्ति या सूक्ष्म शरीर या वैसे ही कुछ के साथ इसका सम्बन्ध है। वे इस मामूली व्यक्ति की सारी मामूली बातों को भी भक्तिविह्वल और मुग्ध होकर सुन रहे थे और छिपकर उसे कागज़ पर नोट किए जा रहे थे। हावभाव देखकर मुझे यों लगा कि वे असामान्य व्यक्ति भी गुप्त रूप से यह समझ रहे थे और खुश भी हो रहे थे।

गाड़ी आकर जंकशन पर रुकी तो हम लोग उतरकर दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा में वेटिंग रूम में इकट्ठे हुए। उस समय रात के साढ़े दस बजे थे। सुना कि रास्ते में कोई गड़बड़ी हो जाने की वजह से गाड़ी काफी देर में आएगी। इसी बीच मेज़ पर बिस्तर बिछाकर मैंने सोने का इन्तज़ाम कर लिया था। इतने में ही उस असामान्य व्यक्ति ने नीचे लिखा किस्सा सुनाना शुरू कर दिया। उस रात को मुझे फिर नींद नहीं आई।

राजकीय व्यवस्था से सम्बन्धित दो-एक विषयों पर जब मेरा मतभेद हुआ तो मैंने जूनागढ़ का काम छोड़कर हैदराबाद के निज़ाम की सरकार में आ गया। मुझे कम अवस्था और मज़बूत शरीर का देखकर उन लोगों ने पहले-पहल मुझे रूई का राजकर वसूल करने भड़ौंच भेज दिया।

भड़ौंच बड़ा ही रमणीक स्थान है। निर्जन पहाड़ों के नीचे से बड़े-बड़े जंगलों में से होकर वहां की सुस्ता नदी (संस्कृत स्वच्छतोया का अपभ्रंश हो सकता है) बिल्लोर पत्थर के टुकड़ों से मुखरित मार्ग पर कुशल नर्तकी-सी पग-पग पर बल खाती, आढ़ी-तिरछी होती हुई, द्रुत गति से नृत्य करती हुई चली गई है। उसी नदी के तट पर पत्थर से बने डेढ़ सौ सीढ़ियोंवाले ऊंचे घाट के ऊपर एक श्वेत संगमरमर का महल पर्वत के पैरों के पास अकेला खड़ा है। आसपास कोई बस्ती नहीं। भड़ौंच की रूई की मंडी और गांव यहां से बहुत दूर हैं।

लगभग ढाई सौ साल पहले, शाह महमूद द्वितीय ने अपने भोग-विलास के लिए यह महल ऐसे निर्जन स्थान में बनवाया था। उस समय इसके स्नानागार के फव्वारों के मुंह से गुलाबजल की धाराएं निकलती

थीं और उसकी फुहारों से शीतल एकान्त कक्षों में संगमरमर के बने ठंडे शिलासनों पर बैठी नवयुवती ईरानी रमणियां अपने कोमल नग्न पदपल्लवों को जलाशय के स्वच्छ जल में डाले, नहाने से पूर्व अपने केशों को खोलकर गोद में सितार लिए अंगूर-वन की गज़लें गाया करती थीं।

अब न तो वे फव्वारे चलते हैं और न वह संगीत ही सुनाई पड़ते हैं और न उन सफेद पत्थरों पर गोरे-गोरे पैरों की नर्म थाप ही पड़ती है। अब वह महल हम जैसे एकान्तवास से पीड़ित महसूल-कलक्टरों का बहुत ही बड़ा और बहुत ही सुनसान वासस्थान है। लेकिन दफ्तर के बूढ़े मुंशी करीमखां ने मुझे उस महल में रहने से बार-बार मना किया था। कहा था, जी चाहे तो दिन में भले ही रहिए पर रात हरगिज़ वहां न बिताइएगा। मैंने यह बात हंसकर उड़ा दी। नौकरों ने कह दिया कि वे शाम तक काम करेंगे किन्तु रात को यहां पर नहीं रहेंगे। मैंने कहा, "अच्छी बात है।" दरअसल यह मकान इतना बदनाम था कि चोर भी यहां आने की हिम्मत नहीं करते थे।

पहले-पहले जब मैं यहां आया था तो इस परित्यक्त पाषाण-प्रासाद की निर्जनता का मेरी छाती पर एक भयानक बोझ-सा बना रहता था। मुझसे जितना सम्भव होता मैं बाहर ही बाहर रहता और काम की थकान से चूर-चूर हो घर लौटकर सो जाता था।

लेकिन हफ्ता-भर बीतते न बीतते उस महल के एक अनोखे नशे ने मुझे धीरे-धीरे घर दबाया। मेरी उस दशा का वर्णन करना भी कठिन है और उस बात पर किसीको विश्वास दिलाना और भी कठिन है। यह सारा महल मानो एक सजीव पदार्थ-सा अपने जठरस्थ मोह-रस से मुझे धीरे-धीरे पचाने लगा।

शायद इस मकान में पैर रखते ही मुझपर यह प्रक्रिया शुरू हो गई थी। लेकिन जिस दिन होश की दशा में मैंने इसकी शुरुआत का अनुभव किया उस दिन की बातें मुझे साफ-साफ याद हैं।

उस समय गर्मियों का आरम्भ था और रूई का बाज़ार ढीला था। मेरे हाथ में कोई काम भी न था। सूर्यास्त से कुछ पहले मैं नदी के किनारे उस घाट के नीचे एक आरामकुर्सी पर बैठा था। सुस्ता

नदी उस समय काफी सूख गई थी। उस पार का दूर तक फैला हुआ बालू का तट डूबते हुए सूरज की आभा से रंगीन हो उठा था। इस पार घाट की सीढ़ियों के नीचे स्वच्छ छिछले जल में पत्थर की छोटी-छोटी गोल-गोल बटियां चमक रही थीं। उस दिन कहीं भी ज़रा-सी हवा न थी। निकट पहाड़ से वन-तुलसी, पुदीना और सौंफ की झाड़ियों से उठती हुई गाढ़ी सुगन्ध ने सारे निश्चल आकाश को भारी कर दिया था।

सूरज जब गिरि-शिखर की आड़ में डूब गया तो तुरन्त दिन की नाट्यशाला में मानो एक लम्बी छाया यवनिका-सी गिर गई। यहां बीच में पर्वत आ जाने से प्रकाश और अन्धकार का मिलन चिर-स्थायी नहीं होता। घोड़े पर सवार होकर कहीं घूम आने का विचार कर मैं उठने ही वाला था कि ऐसे ही समय में सीढ़ियों पर किसीके पैरों की चाप सुनाई पड़ी। पीछे पलटकर देखा—कोई नहीं था।

इन्द्रियों का भ्रम है, ऐसा समझकर जो मैं मुड़कर बैठा तो अब की बार बहुत-सी पदध्वनियां सुनाई दीं—मानो बहुत-से लोग उछलते-कूदते उतरे आ रहे हैं। तनिक भय-मिश्रित एक अपूर्व पुलक मेरे सारे अंगों पर छा गई। यद्यपि मेरे सामने कोई भी मूर्ति न थी, फिर भी प्रत्यक्ष के समान मुझे स्पष्ट लगने लगा कि ग्रीष्म की उस सन्ध्या में प्रमोद-चंचल नारियों का एक दल सुस्ता के जल में नहाने उतरा है। यद्यपि इस शाम को, निस्तब्ध पर्वत के नीचे, नदी-तट पर, निर्जन महल में, कहीं भी कोई शब्द नहीं हो रहा था, फिर भी मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा कि झरने की सहस्र धाराओं की तरह कौतुकपूर्ण कल-हास्य करती और एक-दूसरे का वेग से पीछा करती हुई स्नानार्थिनी तरुणियां मेरे शरीर के निकट से निकल गईं। उन्होंने मेरी तरफ देखा तक नहीं। वे मानो मेरे लिए अदृश्य हों और मैं उनके लिए उसी प्रकार अदृश्य हूं। नदी पहले की ही तरह स्थिर थी किन्तु मुझे स्पष्ट अनुभव होने लगा कि स्वच्छतोया का उथला प्रवाह बहुत-सी कंगन-झंकृत बांहों से विक्षुब्ध हो उठा है, हंस-हंसकर सखियां एक-दूसरे पर जल उछाल रही हैं और तैरनेवालियों के पैरों के प्रहार से जल की बूंदें मोतियों की फुहारों-सी आकाश में उड़ रही हैं।

मेरे हृदय में एक प्रकार का कम्पन होने लगा। यह उत्तेजना भय के, आनन्द के या कुतूहल के कारण थी, मैं ठीक तौर से बता नहीं सकता। मुझे बड़ी इच्छा होने लगी कि अच्छी तरह से देखूं, लेकिन सामने देखने को कुछ न था। लगा कि एक बार अच्छी तरह से कान लगाकर सुनूं तो शायद उनकी सारी बातें ही साफ-साफ सुनाई पड़ेंगी, लेकिन कान को एकाग्र करने से केवल जंगल के झींगुरों की ध्वनि ही सुनाई पड़ी। लगा कि ढाई सौ साल का काला पर्दा मेरे ही सामने लटक रहा है—डरते-डरते उसकी एक छोर उठाकर मैंने भीतर देखा—वहां बहुत बड़ी सभा लगी हुई थी, पर गाढ़े अंधियारे में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था।

अचानक उमस को तोड़ती हुई सनसनाती हुई एक हवा चली—सुस्ता का शान्त जल-तल देखते ही देखते अप्सरा के घुंघराले केश के समान कुंचित हो उठा, और सन्ध्या की छाया से ढकी सारी वन-भूमि क्षण-भर में एक ही साथ मर्मरध्वनि कर मानो दुःस्वप्न से जाग उठी। स्वप्न कहो चाहे सत्य मानो, ढाई सौ साल के अतीत क्षेत्र से प्रतिफलित होकर जो एक अदृश्य मरीचिका मेरे सामने उतर आई थी वह क्षण-भर में न जाने कहां विलीन हो गई। जो मायाविनियां मेरे शरीर पर से देहशून्य द्रुत कदमों से, शब्दहीन उच्च कलहास्य के साथ दौड़ती हुई सुस्ता के जल में कूद पड़ी थीं वे भीगे आंचल से पानी निचोड़ती हुई मेरी बगल से होकर ऊपर वापस नहीं गईं। हवा जिस प्रकार गन्ध को उड़ा ले जाती है, ठीक उसी प्रकार वसन्त की एक सांस में वे भी उड़कर कहीं चली गईं।

तब मुझे बड़ा भय होने लगा कि कहीं मुझे अकेला पाकर अचानक मेरे कंधे पर कवितादेवी तो सवार नहीं हो गईं! मैं बेचारा रूई की चुंगी वसूल करके किसी तरह अपना पेट पालता हूं, कहीं यह सत्यानाशिनी मेरा बंटाधार करने तो नहीं आ गई! सोचा, ज़रा अच्छी तरह से भोजन करना होगा—खाली पेट में ही ऐसे लाइलाज मर्ज़ आकर भीड़ जमाते हैं। उसी वक्त मैंने अपने बावर्ची को बुलाकर काफी घी-मसालेदार मुगलिया खाना बनाने का हुक्म दे दिया।

अगले दिन सवेरे ये सारी बातें ही बड़ी हास्यजनक-सी लगने

लगीं। खुशी-खुशी साहबों की तरह सोला हैट पहने, अपने हाथ से गाड़ी हांकता हुआ अपने काम पर चला गया। उस दिन तिमाही रिपार्ट लिखने का दिन था इसलिए देर से घर लौटने की बात थी। लेकिन शाम होते न होते ही कोई मुझे घर की ओर आकर्षित करने लगा। कौन मुझे खींचने लगा यह नहीं बता सकता, पर मन कहने लगा कि अब और देर नहीं करनी चाहिए। मन कहने लगा कि सब लोग बैठे होंगे। रिपोर्ट अधूरी छोड़कर हैट पहन लिया और उस सन्ध्या-धूसर तरु-छाया से ढंके सुनसान पथ को रथ के पहियों के शब्द से चौकन्ना करता हुआ उस अन्धकारपूर्ण शैलान्तवर्ती निस्तब्ध विशाल प्रासाद में पहुंच गया।

सीढ़ियों के ऊपर, सामने का कमरा बहुत ही बड़ा है। बड़े-बड़े खम्भों की तीन पंक्तियों पर मेहराबदार फैली हुई छत थी। यह विशाल कमरा अपना अगाध सूनापन लिए दिन-रात भांय-भांय किया करता था। उस दिन शाम को उस समय भी बत्ती नहीं जलाई गई थी। दरवाजा धकेलकर ज्योंही मैं उस वृहत् कमरे में दाखिल हुआ त्योंही मुझे लगा कि वहां यकायक बड़ा भारी विप्लव शुरू हो गया है—मानो अचानक सभा भंग करके चारों ओर के दरवाजे, खिड़कियां, रास्ते, बरामदे, जिसे जिधर राह मिली उधर ही भगदड़ में लग गए। कौन किधर गई कुछ पता न लगा। मैं कहीं किसीको न देखकर वाक्शून्य हो खड़ा रहा। शरीर एक प्रकार के आवेश से रोमांचित हो उठा, मानो बहुत दिनों पुरानी तेल-फुलेल और इत्रों की भीनी महक मेरी नाक में घुसने लगी। मैं उस दीपक-शून्य, जन-शून्य विशाल कक्ष के प्राचीन प्रस्तर-स्तम्भों के बीच में खड़ा हुआ सुनने लगा—झर-झर शब्द करता फव्वारे का जल सफेद पत्थर पर गिर रहा है, सितार पर कौन-सा राग बज रहा है समझ न सका, कहीं पर स्वर्ण-आभूषण की रुन-झुन तो कहीं पायलों की झंकार, कहीं विशाल तांबे के घड़ि-याल पर प्रहर-सूचक ध्वनि, बहुत दूर पर नौबत की मीठी तान, हवा में डोलते हुए बिल्लौर के बड़े-बड़े झाड़ों के लटकनों की टुन-टुन ध्वनि, बरामदे से पिंजड़े में बुलबुलों का चहचहाना, बाग से पालतू सारसों की पुकार—सबने मिलकर मानो मेरे चारों ओर एक प्रेतलोक

की रागिनी छेड़ दी।

मुझमें ऐसा एक मोह उत्पन्न हो गया कि लगने लगा कि यह अस्पृश्य, अगम्य अवास्तव घटना ही संसार में एकमात्र सत्य है और बाकी सब कुछ मिथ्या से भरी मरीचिका है। मैं, यानी अमुक साहब का बड़ा लड़का, अमुक नाम का मैं, साढ़े चार सौ रुपया तनख्वाह पाने-वाला रूई का महसूल-कलेक्टर मैं, हैट और छोटा कसावदार कुर्ता पहन टमटम हांककर दफ्तर जानेवाला मैं यह अपने को समझाने लगा कि यह सभी कुछ मेरे लिए अजीब-सा मज़ाक, निरा झूठ और बेसिर-पैर का दृश्य है। मैं उस विशाल निस्तब्ध अंधेरे कक्ष के बीच में खड़ा ज़ोरों से ठहाका मारकर हंस पड़ा।

तब तक मेरा मुसलमान नौकर जलता हुआ केरोसिन का लैम्प हाथ में लिए कमरे में दाखिल हुआ। उसने मुझे पागल समझा या नहीं मुझे नहीं मालूम। लेकिन उसी क्षण मुझे याद आया कि मैं स्वर्गीय अमुकचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र अमुकनाथ हूं, और साथ ही साथ यह भी सोचने लगा कि संसार के भीतर या बाहर कहीं पर भी अमूर्त फव्वारा हमेशा झरता है या नहीं और कहीं पर अदृश्य उंगलियों के झनकारने से किसी मायावी सितार से अनन्त रागिनी ध्वनित होती है या नहीं, यह हमारे महाकवि या कविवर ही बता सकते हैं, किन्तु यह बात तो सोलह आने सच है कि मैं भड़ौंच की मंडी में रूई की चुंगी वसूल कर महीने में साढ़े चार सौ रुपये तनख्वाह लेता हूं। तब मैं अपने पूर्वक्षणों की अद्भुत मोह-माया की याद करके टेबल के पास लैम्प के सामने बैठ अखबार देखता हुआ चस्का ले-लेकर हंसने-मुस्कराने लगा।

अखबार पढ़कर, मुगलिया खाना खाने के बाद मैं अपने कोनेवाले छोटे-से कमरे में जाकर बत्ती बुझाकर बिस्तर पर लेट गया। मेरे सामने की खुली खिड़की से, अंधियारे जंगलों से घिरे अरावली पर्वत की चोटी के ऊपर एक जगमगाता हुआ सितारा करोड़ों-अरबों योजन दूर आकाश से इस तुच्छ कैम्प-खाट पर पड़े श्रीमान चुंगी-कलक्टर को टकटकी लगाए देख रहा था, और मैं इससे विस्मय और कौतुक अनुभव करता हुआ कब सो गया, बता नहीं सकता हूं। कितनी देर

तक मैं सोता रहा यह भी नहीं जानता। एकाएक मैं सिहरकर जाग पड़ा,—कमरे में कोई आवाज़ हुई हो ऐसी बात नहीं या कोई घुस आया हो सो भी मुझे दिखाई न पड़ा। अंधकारमय पर्वत के ऊपर से वह एकटक सितारा डूब चुका था और अंधेरे पखवाड़े की फीकी चांदनी अनधिकार प्रवेश के संकोच से संकुचित होकर मेरी खिड़की में से अन्दर आ गई थी।

किसी व्यक्ति को देख न सका फिर भी मुझे स्पष्ट रूप से लगा कि कोई मुझे धीरे-धीरे हिला रहा है। मेरे जाग उठते ही वह कुछ न कहकर मानो केवल अपनी अंगूठियों से चमकती हुई पांचों उंगलियों से इशारा करके उसने मुझे बड़ी सावधानी से अपने पीछे-पीछे चलने का आदेश दिया।

मैं बहुत ही दबे पांव उठा। यद्यपि उस शत प्रकोष्ठोंवाले, विशाल सूनेपन से भरे, निद्रित ध्वनि और सजग प्रतिध्वनियों से गूंजते हुए उस विशाल प्रासाद में मेरे सिवा कोई और नहीं था, फिर भी पग-पग पर यही शंका बनी रही कि कहीं कोई जाग न जाए। उस महल के अधिकांश कमरे बन्द रहते थे और उन कमरों में मैं कभी गया भी नहीं था।

उस रात को निःशब्द पग धरते हुए, सांस रोके मैं उस अदृश्य आह्वान करनेवाली का अनुसरण करता हुआ कहां चला जा रहा था, आज भी स्पष्ट रूप से नहीं बता सकता हूं। कितने संकरे अंधियारे गलियारे, कितने लम्बे-लम्बे बरामदे, कितने स्तब्ध वृहत् सभाकक्ष, कितनी हवा-शून्य छोटी-छोटी बन्द कोठरियां पार कर जाने लगा उसकी कोई इन्तहा नहीं थी।

अपनी उस अदृश्य दूती को यद्यपि मैंने आंखों से नहीं देखा था फिर भी उसकी मूर्ति मेरे मन से अगोचर न रही। अरब-देशीय रमणी। उसकी ढीली आस्तीनों में से संगमरमर के बने जैसे कठिन सुडौल हाथ दिखाई दे रहे थे, टोपी के किनारे से एक झीने कपड़े का नकाब उसके मुख पर उतर आया था और उसके कमरबन्द से एक बांकी छुरी बंधी हुई थी।

मुझे ऐसा लगने लगा मानो 'अलिफ-लैला' की हज़ार रातों में से

कोई एक रात आज उपन्यास-लोक से उड़कर यहां चली आई है। मैं मानो अन्धकारमयी रात्रि में लुप्त बगदाद शहर की संकरी दीपहीन गलियों में किसी संकट से भरे अभिसार के लिए चल रहा हूं।

अन्त में दूती मुझे एक गाढ़े नीले रंग के पर्दे के सामने लाकर सहसा ठिठककर खड़ी हो गई और नीचे की ओर उंगलियों के इशारे से कुछ दिखाने लगी। नीचे कुछ भी न था फिर भी डर से मेरा खून सूख गया। मैंने यह अनुभव किया कि उस पर्दे के सामने कमखाब की पोशाक पहने, गोद में खुली तलवार लिए, दोनों पैर फैलाए एक भयानक हब्शी खोजा बैठा-बैठा ऊंघ रहा है। दूती हलके कदमों से उसके दोनों पैरों को लांघ गई और पर्दे के एक छोर को पकड़कर उठाया।

भीतर से कमरे का कुछ हिस्सा नज़र आया जिसमें ईरानी कालीन बिछा हुआ था। भीतर तख्त के ऊपर कौन बैठा है, साफ-साफ दिखाई नहीं पड़ा। सिर्फ जाफरानी रंग के ढीले पायजामे के नीचे ज़रीदार नागरे पहने दो छोटे-छोटे सुन्दर चरण गुलाबी रंग के मखमली आसन पर अलस भाव से पड़े दिखाई दिए। फर्श पर एक तरफ एक नीलाभ स्फटिक-पात्र में चन्द सेब, नाशपाती, नारंगी और अंगूरों के गुच्छे रखे थे, उसके पास ही एक छोटा-सा प्याला और सुनहरे रंग की मदिरा से पूर्ण कांच का बना पात्र मेहमान के लिए इन्तज़ार कर रहे थे। कमरे के भीतर से एक अनोखे धूप की मादक सुरभि से भरा धुआं आकर मुझे मदहोश कर गया।

कांपते हुए हृदय से ज्योंही मैंने उस खोजे की फैली हुई टांगें लांघकर पार कर जाना चाहा, त्योंही वह चौंककर जाग उठा—उसकी गोद से तलवार पत्थर के फर्श पर झन्न से गिर पड़ी।

सहसा एक विकट चीख सुनकर चौंककर मैंने देखा कि अपनी उस कैम्प-खाट पर मैं पसीने से तर-बतर बैठा हूं—प्रभात के प्रकाश में कृष्णपक्ष का चांद रात-भर जगे हुए रोगी की तरह पीला पड़ गया है—और बाहर हम लोगों का परिचित पागल मेहरअली अपनी प्रतिदिन की प्रथा के अनुसार उषाकाल के सुनसान पथ पर 'दूर रहो, दूर रहो' चिल्लाता हुआ चला जा रहा है।

इसी तरह से मेरे 'अलिफ-लैला' की एक रात अचानक ही खत्म

हो गई, लेकिन अब भी एक हज़ार रातें बाकी थीं।

मेरे दिन के साथ रात का बड़ा भारी विरोध उठ खड़ा हुआ। दिन को थका-मांदा शरीर लेकर काम पर जाता और शून्य स्वप्नमयी मायाविनी रात को कोसता रहता और फिर सांझ घिर आने के बाद दिन के काम-काज-भरे अस्तित्व को अत्यन्त तुच्छ, झूठा, हास्यकर समझने लगता।

शाम के बाद मैं एक नशे के जाल में मदहोश-सा होकर उलझ जाता था। और उस समय मैं सैकड़ों वर्ष पहले के किसी अलिखित इतिहास का कोई अनोखा व्यक्ति बन जाता और तब मुझपर वह विलायती छोटा कुर्ता और कसी-कसी-सी पतलून बिलकुल नहीं जंचते थे। तब मैं सिर पर लाल मखमल की टोपी, और बदन पर ढीला पायजामा, फूलदार कबा और रेशमी लम्बा चोगा पहन रंगीन रूमाल पर इत्र डालकर बड़े ही जतन से सजावट करता, और सिगरेट फेंककर गुलाबजल से भरी बहुत लम्बी व पेचदार नलीवाली फरशी लिए गद्दीदार ऊंची कुर्सी व मसनद पर बैठ जाता, मानो किसी अपूर्व प्रिय-सम्मेलन के लिए बड़ी ही आतुरता लिए मैं बैठा रहता था।

उसके बाद जितना ही अंधेरा गाढ़ा होता रहता, उतनी ही, न जाने कैसी अद्‌भुत घटनाएं होती रहतीं जिनका वर्णन मैं नहीं कर सकता। ठीक ऐसा लगने लगता मानो किसी चमत्कारपूर्ण कहानी के कुछ फटे हुए अंश वसन्त के आकस्मिक झकोरे से इस विशाल प्रासाद के विचित्र कक्षों में उड़ते फिर रहे हों। उस कहानी का कुछ अंश तो मिलता और उसके बाद उसका सिलसिला खो जाता, उसका अन्त दिखाई नहीं पड़ता। मैं भी रात-भर उन उड़ते हुए विच्छिन्न अंशों का पीछा करते हुए कमरों में भटकता रहता था।

इन खंड-स्वप्नों की भंवर में पड़े कभी तो मुझे हिना की महक मिलती, तो कभी सितार की झंकार सुनाई पड़ जाती, तो कभी सुरभित जल की शीतल बौछारों से मिली पवन-हिलोरों में एक नायिका को बिजली की रेखा-सी चमचमाती हुई लम्हे-भर के लिए देख लिया करता था। वही केसरिया रंग का पायजामा पहने होती, उसीके दूधिया-गुलाबी दोनों पैरों में ज़रीदार नुकीली जूतियां होतीं, उसीके

पीनोन्नत वक्षों पर ज़री की फूलदार कंचुकी कसी होती और सिर पर एक लाल टोपी होती जिसकी सुनहली झालर उसके शुभ्र माथे और कपोलों को घेर लेती थी।

उसने मुझे पागल कर दिया था। मैं उसीके अभिसार के लिए हर रात को निद्रा के पाताल-राज्य में, स्वप्नों के घुमावदार पथों पर, मायापुरी की गली-गली में, कोठरी-कोठरी में, इधर से उधर भटकता फिरता था।

किसी-किसी दिन शाम को जब मैं बड़े दर्पण के दोनों ओर दो बत्तियां जलाकर बड़ी ही दिलचस्पी के साथ अपने को शाहज़ादे की तरह सजाने में मशगूल रहता, तो आइने में मेरी परछाईं की बगल में क्षण-भर के लिए उस तरुणी ईरानी की छाया आ ठहरती। और उसी लमहे-भर में वह गर्दन टेढ़ी कर, अपनी बड़ी-बड़ी गाढ़ी काली पुतलियोंवाली आंखों से अपने हृदय का गहरा आवेश और तीव्र वेदना प्रकट करती, आग्रह-भरी तिरछी चितवन डालकर, सरस सुन्दर बिम्बाधर में एक अस्फुट भाषा का आभास-मात्र देती हुई, लघुललित नृत्य से अपनी यौवन-पुष्पित देह-लता को वेग से ऊपर की ओर आवर्तित कर क्षण-भर में वेदना, वासना और विभ्रम के हास्य-कटाक्षों की बौछार करती हुई और आभूषणों की चमक की चिंगारियां बरसाती हुई दर्पण में ही विलीन हो जाती। गिरि-कानन की सारी सुगन्ध लूटकर एक उद्दाम पवन का झोंका आकर दोनों बत्तियों को बुझा देता। मैं अपनी वेश-भूषा छोड़कर वेशकक्ष के कोने में अपने बिस्तर पर पुलकित देह लिए आंखें बन्द किए लेटा रहता। मेरे चारों ओर उस हवा में, उस अरावली गिरिकुंज के सारे सुप्त सौरभ में मानो अनेक प्यार, अनेक चुम्बन, अनेक कोमल कर-स्पर्श एकान्त अन्धकार को पूर्ण करते हुए तैरते रहते थे। मेरे कानों के पास अनेक कल-गुंजन सुनाई पड़ते, मेरे माथे पर सुवासित सांस आ लगती और भीनी खुशबू से भरा झीना मुलायम दुपट्टा उड़-उड़कर मेरे माथे को स्पर्श करता रहता। धीरे-धीरे एक मोहिनी नागिनी अपनी मादक लपेट में मेरा सारा अंग बांध डालती और मैं तृप्ति की सांस ले अपनी सुन्न देह लिए गहरी नींद में सो जाता।

एक दिन तिपहर को घोड़े पर सवार होकर घूमने जाने का निश्चय किया। पता नहीं कौन मुझे मना करने लगी—लेकिन उस दिन मैंने उसकी एक न सुनी। एक खूंटी पर मेरा साहबी हैट और छोटा कुर्ता टंगा था। मैं उन्हें उतारकर पहननेवाला ही था कि ऐसे समय सुस्ता नदी का बालू और अरावली पर्वत की सूखी पत्तियों का झंडा फहराता एक बवंडर अचानक आ धमका और मेरे उस हैट-कुर्ते को न जाने कहां उड़ाता हुआ लेकर चला गया। और उसीके साथ-साथ एक मीठी पर ऊंची हंसी उस बगूले के साथ घूमती हुई, कौतुक से सभी चाभियों पर चोट करती हुई, ऊंचे सप्तक पर चढ़ती सूर्यास्त लोक में विलीन हो गई।

उस दिन घुड़सवारी न की जा सकी और उस दिन से मैंने वह हास्यजनक कसा कुर्ता और हैट पहनना छोड़ दिया।

फिर उसी दिन आधी रात को बिस्तर पर उठकर बैठा और सुना मानो कोई दिल तोड़कर सिसक रही है—मानो मेरे तख्त के नीचे से, फर्श के नीचे से, इस विशाल प्रासाद की पत्थर की नींव के नीचे से, एक नम अंधेरी कब्र से वह रो-रोकर कह रही है, 'मुझे तुम आज़ाद कर ले चलो। इस कठोर माया, इस गहरी नींद और निष्फल स्वप्नों के सारे दरवाज़े तोड़कर तुम अपने घोड़े पर मुझे बिठाकर, अपनी छाती में सटाकर, जंगल के भीतर से, पहाड़ी के ऊपर से, नदी पार करके, सूर्यालोक से प्रकाशित अपने कमरे में ले चलो। मुझे आज़ाद कर दो।'

मैं कौन हूं ? मैं कैसे तुम्हें आज़ाद कर दूं ? मैं इस घूमते और बदलते हुए सपनों के प्रवाह में से किस डूबती हुई कामना-सुन्दरी को निकालकर किनारे लगाऊं ? तुम कहां थीं ? हे दिव्यरूपिणी ! तुम कहां थीं ? किस शीतल सोते के पास, खजूरों की छाया में, किस गृह-शून्य मरुवासिनी की गोद में तुमने जन्म लिया था ? तुम्हें कौन बद्दू डाकू, वनलता से फूल की कली की तरह, मां की गोद से तोड़कर, बिजली की चाल चलनेवाले घोड़े पर बिठाकर, रेगिस्तान के जलते हुए बालू को पार करके, किस महल के बांदी-बाज़ार में बेचने के लिए ले आया था ? वहां किस बादशाह के नौकर ने तुम्हारी नवविकसित,

सलज्जकातर यौवन-शोभा निहारकर सोने के सिक्कों से तुम्हें खरीद लिया था और समुद्र पार कर, सोने की पालकी में बिठाकर, तुम्हें अपने मालिक के ज़नानखाने के लिए भेंट चढ़ा गया था ? वहां का इतिहास कैसा था ? वहां की सारंगी की धुन, पायलों की झंकार और सुनहरी शिराजी शराब के बीच लपलपाते छुरों की चमक, विष की ज्वाला, चितवनों की चोट—कैसी थी वह ? कितनी बेशुमार दौलत थी और कितना अनन्त कारागार था वह ? दोनों ओर दो बांदियां कंगन पर जड़े हीरे के नग चमकाती हुई चंवर डुला रही थीं। शहंशाह बादशाह उसके गोरे पांवों के नीचे मानिक-मोतियों से जड़ी हुई जूतियों के पास लोट रहे थे। बाहर दरवाज़े के पास यमदूत-सा हब्शी देवदूत जैसी पोशाक पहने, हाथ में नंगी तलवार लिए खड़ा था। उसके बाद उस रक्तपात से अपवित्र, ईर्ष्या के फेन से भरे, षड्यंत्रों से पूर्ण, भीषण उज्ज्वल दौलत के प्रवाह में बहती हुई, मरुभूमि की कुसुम-कली तुम, किस निर्दय मृत्यु के तट पर जा अटकीं या उससे भी अधिक निष्ठुर कठोर महिमातट पर फेंक दी गईं ?

ऐसे ही समय वह पागल मेहरअली चिल्ला उठा, "दूर रहो, दूर रहो। झूठा है, सब झूठा है।" आंखें खोलकर देखा, सवेरा हो गया है। चपरासी ने आकर डाक की चिट्ठियां दीं और बावर्ची ने आकर सलाम करते हुए पूछा, "आज क्या खाना बनेगा ?"

मैंने कहा, "नहीं, अब इस मकान में और नहीं रहना है।" उसी दिन अपना सब असबाब-सामान लेकर मैं दफ्तर के कमरे में जा पहुंचा। दफ्तर का बूढ़ा क्लर्क करीमखां मुझे देखकर कुछ मुस्कराया। मुझे उसकी मुस्कराहट से कुछ झुंझलाहट-सी हुई और बिना जवाब दिए मैं अपना काम करने लगा।

जितनी ही शाम निकट आने लगी, उतना ही मैं अनमना-सा होने लगा। लगने लगा कि अभी जल्द ही मुझे कहीं जाना है। रूई का हिसाब जांचना बिलकुल अनावश्यक मालूम होने लगा। निज़ाम की निज़ामत भी मुझे कोई खास बड़ी चीज़ नहीं मालूम हुई। मेरे चारों ओर जो कुछ भी विद्यमान है, जो कुछ भी चल-फिर रहा है, मेहनत-मशक्कत कर रहा है, खा-पी रहा है, सभी कुछ मुझे बहुत ही नाचीज़,

बिलकुल बेमतलब का और गरीबी से भरा लगने लगा।

मैंने कलम फेंक दी, भारी बही-खाते बन्द कर दिए। फौरन टमटम लेकर रवाना हो गया। देखा, ऐन गोधूलि की बेला में टमटम खुद-ब-खुद उस पाषाण-प्रासाद के फाटक के सामने जा खड़ी हो गई। और मैं तेज़ कदमों से सीढ़ियां तय करता हुआ कमरे में दाखिल हो गया।

आज बड़ा सन्नाटा था। अंधेरे कमरे मानो नाराज़ होकर मुंह फुलाए बैठे हैं। पश्चात्ताप से मेरा हृदय भर उठने लगा, लेकिन कहूं तो किससे कहूं! किससे माफी मांगूं—कोई ढूंढ़े न मिला। सूना मन लिए मैं हर कमरे में घूमने लगा। जी करने लगा कि एक साज़ हाथ में लेकर किसीके उद्देश्य में गाऊं, कहूं, 'ऐ मेरी शमा! जो परवाना तुम्हें छोड़कर भागने की कोशिश कर रहा था वह फिर मरने के लिए आ पहुंचा है। अब की बार उसे क्षमा कर दो, दोनों पंख जलाकर उसे खाक कर दो।'

अचानक मेरे माथे पर दो बूंद आंसू गिरे। उस दिन अरावली पर्वत की चोटी पर घनघोर बादल घिर आए थे। अन्धकारमय अरण्य और सुस्ता का स्याह पानी एक भीषण प्रतीक्षा में स्थिर थे। जल-थल-आकाश सहसा सिहर उठे और अकस्मात् एक आंधी अपने बिजली के समान दांत कड़कड़ाती हुई, जंज़ीर को तोड़कर—भागे हुए उन्मत्त पागल के समान दूर जंगल से चीखती-चिल्लाती झपटती चली आई। प्रासाद के बड़े-बड़े खाली सूने कमरे-दरवाज़े पटक-पटककर तीव्र वेदना से हहाकर रोने लगे।

आज सभी नौकर दफ्तरवाले मकान में थे—आज यहां बत्ती जलानेवाला भी कोई नहीं था। और उस बादलों से ढकी अमावस की रात में महल के भीतर उस कसौटी-से काले अंधेरे में मैंने यह स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि एक रमणी पलंग के नीचे गलीचे पर औंधी पड़ी हुई अपनी कसी हुई मुट्ठियों द्वारा अपने बिखरे खुले बाल नोच रही है। उसके गोरे माथे से खून बह रहा है। कभी तो वह शुष्क और तीव्र कहकहा लगाने लगती, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगती। कभी दोनों हाथों से अपनी अंगिया फाड़कर वह नग्न वक्ष पीटने लगती।

खुली खिड़की से हवा गरजती हुई आ रही है और मूसलाधार वर्षा आकर उसकी सारी देह भिगो रही है।

न तो सारी रात तूफान रुका और न उसका रोना ही बन्द हुआ। मैं रात-भर व्यर्थ पछतावा लिए अंधेरे कमरों में भटकता रहा। कहीं कोई नहीं, किसे तसल्ली दूं? ऐसा न मनाया जा सकनेवाला प्रचंड रूठना किसका है? यह अशान्त विलाप कहां से आ रहा है?

इतने में पागल चिल्ला उठा, "दूर रहो, दूर रहो। झूठा है, सब झूठा है।"

देखा, सवेरा हो गया है और मेहरअली ऐसे आंधी-पानीवाले दिन में भी अपने नियम का पाबन्द, उस प्रासाद का चक्कर लगाता हुआ रोज़ की तरह चिल्ला रहा है। एकाएक मुझे यह ख्याल आया कि शायद यह मेहरअली भी, मेरी ही तरह, इस प्रासाद में रह चुका है और आज पागल होकर निकल जाने के बाद भी इस पाषाण-राक्षस की मोह-माया से खिंचकर रोज़ सवेरे इसके चारों ओर चक्कर लगाने आता है।

उसी वक्त, मैं बारिश में भीगता हुआ दौड़कर पागल के पास गया और उससे पूछने लगा, "क्यों मेहरअली, क्या झूठा है रे?"

मेरी बात का कोई जवाब न देकर उसने मुझे धक्का मारकर गिरा दिया। फिर अजगर की सम्मोहक-शक्ति से बंधा हुआ पक्षी जिस प्रकार उसके चारों ओर चक्कर लगाता हुआ उड़ता है और उसके ग्रास को छोड़ नहीं पाता, उसी तरह वह उस महल के चारों ओर चक्कर लगाने लगा। सिर्फ सारी शक्ति एकत्र कर वह बार-बार अपने को सतर्क और सावधान करने के लिए चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा, "दूर रहो, दूर रहो। झूठा है, सब झूठा है।"

उसी आंधी-पानी में पागल की तरह भागता हुआ मैं दफ्तर गया और करीमखां को बुलवाकर मैंने पूछा, "इसका मतलब क्या है, मुझे खोलकर साफ बताओ।"

वृद्ध ने जो कुछ कहा उसका सारांश यह है कि किसी समय उस प्रासाद में असंख्य अतृप्त वासनाएं और अनेक उन्मत्त संभोग की शिखाएं जला करती थीं। इन्हीं चित्तदाहों और निष्फल कामनाओं

के अभिशाप से इस प्रासाद का पत्थर का एक-एक टुकड़ा भूखा और प्यासा तड़प रहा है और जिन्दा आदमी पाने पर खून के प्यासे पिशाच की तरह उसका खून पीकर अपनी प्यास बुझाना चाहता है। आज तक जितने भी लोग उस महल में तीन रातें रह चुके हैं उनमें से सिर्फ मेहरअली ही पागल होकर बाहर निकल आ सका है, वरना आज तक उसके ग्रास से कोई भी निकल नहीं सका है।

मैंने पूछा, "मेरी मुक्ति का क्या कोई रास्ता नहीं है?"

वृद्ध ने कहा, "एक ही रास्ता है पर वह बड़ा ही दुरूह है। वह तरकीब तुम्हें बताता हूं पर उससे पहले उस गुलबाग की एक ईरानी बांदी का पुराना इतिहास बताना बहुत जरूरी है। वैसी आश्चर्यजनक और हृदयविदारक घटना शायद ही दुनिया में कभी और हुई हो।"

ऐसे ही समय स्टेशन के कुलियों ने आकर खबर दी कि गाड़ी आ रही है। इतनी जल्दी? झटपट बिस्तर-बण्डल बांधते ही गाड़ी आ धमकी। उस गाड़ी के फर्स्ट क्लास के डिब्बे से, नींद से जागा हुआ एक अंग्रेज मुसाफिर खिड़की में से मुंह निकालकर स्टेशन का नाम पढ़ने की कोशिश कर रहा था। वह हमारे उस सहयात्री मित्र को देखते ही 'हैलो' कहकर चिल्ला उठा और हाथ के इशारे से उसने उन्हें अपने डिब्बे में बुला लिया। हम लोग एक सेकंड क्लास के डिब्बे में सवार हो गए। फिर उस बाबू साहब का कुछ पता न लगा और किस्से का आखिरी हिस्सा भी हम न सुन सके।

मैंने कहा, "यह आदमी हम लोगों को बेवकूफ समझकर मज़ाक-मज़ाक में बुद्धू बना गया। यह किस्सा शुरू से आखिर तक मनगढ़न्त है।"

इस विषय में अपने उन अध्यात्मवादी रिश्तेदार के साथ मेरी बहस इतनी ज़ोरदार हुई कि उनके साथ जीवन-भर के लिए मेरा सम्बन्ध टूट गया।

रचनाकाल :
सावन, १३०२ बंगाब्द
सन् १८९५ ई०

पुत्रयज्ञ

गांव-भर में वैद्यनाथ सबसे ज़्यादा समझदार व्यक्ति थे, इसलिए वे वर्तमान का सब काम-काज भविष्य का ध्यान रखकर करते थे। जब उन्होंने ब्याह किया था तब वर्तमान नई दुलहिन की अपेक्षा नये बच्चे का मुखड़ा ही उनके सामने अधिक स्पष्ट होकर दिखाई दिया था। शुभदृष्टि[1] के समय ऐसी परोक्ष दृष्टि प्रायः नहीं पाई जाती। वे दुनियादारी में सधे हुए व्यक्ति थे, इस कारण भावना के प्रेम की अपेक्षा पिंड ही उनकी दृष्टि में अधिक महत्त्व रखता था और 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या' कथन के अनुसार ही उन्होंने विनोदिनी से शादी भी की थी।

लेकिन इस दुनिया में अक्लमन्द लोग ही धोखा खाते हैं! पूर्ण यौवन प्राप्त करने के बाद भी जब विनोदिनी ने अपने सर्वप्रथम कर्तव्य का पालन नहीं किया, तो वैद्यनाथ 'पुन्नाम' नरक का दरवाज़ा अपने लिए खुला देखकर बहुत चिन्तित हुए। मृत्यु के बाद उनकी विशाल सम्पत्ति का भोग कौन करेगा?—इसी चिन्ता में वे मरने के पहले ही अपनी सम्पत्ति के भोग से मुंह मोड़ बैठे। यह तो पहले ही बता चुका हूं कि वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को ही वे अधिक महत्त्व देते थे।

लेकिन युवती विनोदिनी से सहसा इतने धार्मिक ज्ञान की उम्मीद नहीं की जा सकती। उस बेचारी का अनमोल वर्तमान और नव-विकसित यौवन बिना प्रेम के व्यर्थ ही बीता जा रहा था, यही उसके लिए सबसे अधिक शोचनीय था। पारलौकिक पिंड की क्षुधा को वह इहलौकिक हृदय की क्षुधा के दाह के आगे बिलकुल भूल ही बैठी थी।

---

१. विवाह-संस्कार का एक अंग—वर-वधू का परस्पर देखना

मनु के पवित्र विधान और वैद्यनाथ की आध्यात्मिक व्याख्या से उसके भूखे मन को तनिक भी तृप्ति नहीं मिलती थी।

कोई कुछ भी कहे, किन्तु इस अवस्था में प्यार करना और प्यार पाना ही रमणी के लिए सब सुखों और कर्तव्यों से अधिक स्वाभाविक लगता है।

लेकिन विनोदिनी के भाग्य में नवीन प्रेम की फुहार के बजाय पति, सास और गुरुजनों के ऊंचे आकाश से डांट-डपट के ओले बरसने लगे। सभी लोग उसे बांझ कहकर दोषी ठहरा देते। एक फूल के पौधे को प्रकाश और हवा से हटाकर बन्द कोठरी में रखने से जो दशा हो जाती है, वही दशा वंचना से विनोदा के यौवन की हुई।

जब दिन-रात इस तरह की कानाफूसी और बक-झक से उसका जी उकता जाता तो वह कुसुम के घर ताश खेलने चली जाती और यह समय उसका मनोरंजन में बीत जाता। 'पुन् नरक' की भीषण छाया सदा मौजूद न रहने से हंसी-मजाक और गपशप में कोई बाधा नहीं पड़ने पाती थी।

कुसुम को जिस दिन ताश खेलने का साथी न मिलता उस दिन वह अपने तरुण देवर नगेन्द्र को पकड़ लाती। नगेन्द्र और विनोदा के संकोच की आपत्ति को वह हंसकर उड़ा देती। इस संसार में कुछ से कुछ हो जाता है और खेल भी कभी संकट में परिणत हो सकता है, ऐसी गम्भीर बातों पर कम उम्र में सहसा किसीको विश्वास नहीं होता।

इस विषय में नगेन्द्र के संकोच में अधिक आपत्ति की दृढ़ता बिलकुल न दीख पड़ी और अब वह ताश खेलने के लिए अधिक खुशामद की राह भी नहीं देखता।

इस तरह विनोदा के साथ नगेन्द्र की अक्सर मेल-मुलाकात होने लगी।

नगेन्द्र जब ताश खेलने बैठता तब उसके मन और नयन ताश से अधिक सजीव पदार्थ की ओर लगे रहते थे, इसलिए अक्सर वह हार जाता। इस हार का वास्तविक कारण कुसुम और विनोदा दोनों में से किसीसे छिपा नहीं रहा। पहले ही बता चुका हूं कि कर्म-फल

की गम्भीरता समझना कम उम्रवालों का काम नहीं है। कुसुम सोचा करती थी कि यह बड़ी आकर्षक बात हो रही है, और आग्रह के साथ कल्पना करती कि यह क्रमशः पूरे सोलह आनों में हो जाए। प्रेम की नई कोंपलों को छिप-छिपकर पानी से सींचना तरुणियों के लिए सबसे बढ़कर कौतुक की बात होती है।

विनोदा को भी बुरा न लगा। हृदय जीतने की पैनी शक्ति को किसी दूसरे पुरुष पर आज़माने की इच्छा करना अनुचित हो सकता है किन्तु अस्वाभाविक कतई नहीं।

इस तरह ताश की हार-जीत और छक्के-पंजे के चक्कर में किसी एक समय दो खिलाड़ियों के दिल मिल गए और उसे अन्तर्यामी के अलावा एक दूसरे खिलाड़ी ने भी देखा और उसे बड़ा सुख मिला।

एक दिन दोपहर को विनोदा, कुसुम और नगेन्द्र ताश खेल रहे थे। कुछ देर के बाद अपने बीमार बच्चे का रोना सुनकर कुसुम वहां से उठकर चली गई। नगेन्द्र विनोदा से बातें करने लगा। लेकिन वह क्या बातें कर रहा है यह वह खुद ही नहीं समझ सका। हृद्पिंड में उथल-पुथल मचाकर उसका रक्त-स्रोत सारे शरीर की शिराओं में लहराने में लगा।

एकाएक उसके उद्दाम यौवन ने सारे बांध तोड़ डाले—अचानक विनोदा के दोनों हाथों को कसकर उसने पकड़ लिया और अपनी ओर खींचकर उसका चुम्बन ले लिया।

विनोदा नगेन्द्र द्वारा इस तरह अपमानित होकर, क्रोध, क्षोभ और लज्जा से अधीर होकर अपना हाथ छुड़ाने के लिए खींचातानी कर रही थी कि इतने में उन लोगों को दिखाई पड़ा कि कमरे में कोई तीसरा व्यक्ति घुस आया है। नगेन्द्र सिर झुकाए बाहर निकलने का रास्ता ढूंढने लगा।

नौकरानी ने गम्भीर स्वर में कहा, "बहूजी, तुमको बूआ बुला रही है।" विनोदा सजल आंखों से नगेन्द्र पर बिजली-सी डालती हुई नौकरानी के साथ चली गई।

नौकरानी ने जितना देखा था उसे कुछ घटाकर औ
नहीं देखा था उसीको बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया जिससे वैद्यनाथ के

अन्त:पुर में एक तूफान खड़ा हो गया। विनोदा की क्या दशा हुई उसके वर्णन की अपेक्षा उसकी कल्पना करना आसान है। वह इस मामले में कितनी निरपराध है, इस बात को समझाने की उसने कोशिश तक नहीं की—सिर झुकाए सब कुछ झेलती रही।

वैद्यनाथ ने अपने भावी पिंडदाता के आविर्भाव की सम्भावना को संशयपूर्ण जानकर विनोदा से कहा, "कलंकिनी, तू मेरे घर से निकल जा, दूर हो जा।"

विनोदा अपने शयनकक्ष का दरवाजा बन्द करके बिस्तर पर पड़ गई। उसकी अश्रुहीन आंखें दोपहर की मरुभूमि की तरह जलने लगीं। जब सांझ का अंधेरा गाढ़ा हो गया, बाहर बाग में कौवों की कांव-कांव बिलकुल रुक गई, तब तारों से जड़े शान्त आकाश की ओर देख उसे अपने मां-बाप की याद आने लगी और तब उसके दोनों गालों से झर-झर आंसू झरने लगे।

उसी रात को विनोदा अपना पतिगृह छोड़कर चली गई। किसी-ने उसकी खोज तक नहीं की।

और तब विनोदा यह जान भी न सकी थी कि 'प्रजनार्थ महा-भागा' नारी-जन्म का महाभाग्य उसे प्राप्त हो चुका है,—उसके पति की पारलौकिक सद्गति ने उसके गर्भ में आकर आश्रय ले लिया है।

इस घटना के बाद दस साल बीत गए।

इस बीच वैद्यनाथ की सम्पत्ति की हालत पहले से काफी सुधर चुकी थी। अब वे गांव छोड़ कलकत्ता आ गए हैं और वहां बहुत बड़ी कोठी खरीदकर उसमें रहने लगे हैं।

किन्तु जायदाद जितनी ही बढ़ने लगी, जायदाद के वारिस के लिए उतना ही उनका मन अकुलाने लगा।

दो-दो बार उन्होंने शादी की लेकिन पुत्र न पैदा होकर सिर्फ कन्या ही पैदा होने लगी। ज्योतिषियों, दैवज्ञों, संन्यासियों और अवधूतों से घर भर गया। जड़ी-बूटी, झाड़-फूंक, तावीज़-यंत्री, और पेटेण्ट दवाओं की जैसे झड़ी लग गई। कालीघाट में जितने बकरी के बच्चे काटे गए, उनकी हड्डियों का स्तूप बनाया जाता तो उसके

सामने तैमूर लंग का कंकाल-जयस्तंभ भी हार मान जाता। लेकिन फिर भी चन्द हड्डियों और थोड़े-से मांस से बना एक छोटे से छोटा बच्चा भी वैद्यनाथ के विशाल भवन का एक कोना तक अधिकार करता न दिखाई पड़ा। उनकी गैर-मौजूदगी में कौन पराया लड़का आकर उनकी दौलत पर कब्ज़ा करके खोएगा-उड़ाएगा, इसी फ़िक्र में खाने-पीने में उन्हें रुचि नहीं रह गई।

वैद्यनाथ ने एक और विवाह किया क्योंकि संसार में आशा का भी अन्त नहीं और कन्या-दान के भारग्रस्तों के घर कन्याओं की भी कमी नहीं।

ज्योतिषियों ने जन्मपत्री देखकर बताया कि इस कन्या के पुत्र-स्थान में जैसा शुभ योग दिखाई पड़ता है उससे तो लगता है कि वैद्यनाथ के घर में प्रजा-वृद्धि में ज़रा भी विलम्ब नहीं होगा। किन्तु उसके बाद पांच वर्ष बीत गए परन्तु पुत्रस्थान के शुभ योग ने आलस्य नहीं छोड़ा।

निराशा से वैद्यनाथ की कमर टूट गई। अन्त में शास्त्रज्ञ पंडितों के परामर्श से एक काफी व्यय-साध्य यज्ञ का आयोजन किया गया—जिसमें बहुत दिनों से अनेक ब्राह्मणों की सेवा-टहल होने लगी।

उस समय देशव्यापी अकाल से बंगाल, बिहार और उड़ीसा सूख-कर हाड़-चाम-भर रह गए थे। वैद्यनाथ जब अपनी अथाह सम्पत्ति के बारे में बैठा सोच रहा था कि मेरा अन्न खाएगा कौन, ठीक उसी समय भूखे देशवासी अपने खाली पेट की ओर देखकर सोच रहे थे कि खाएं क्या ?

ठीक इसी समय चार महीने तक वैद्यनाथ की चौथी सहधर्मिणी एक सौ ब्राह्मणों का पादोदक पी रही थीं और एक सौ ब्राह्मण रोज़ सवेरे पेट भरकर भोजन और शाम को पर्याप्त जलपान करके घी-दही से सनी पत्तलों, सकोरों और कुल्हड़ों से म्यूनिसिपैलिटी की कूड़ा-गाड़ी भरते चले जा रहे थे। भोजन की गन्ध पाकर अकाल-पीड़ित भूखी जनता के दल के दल दरवाज़े पर इकट्ठे होने लगे। उन्हें हमेशा खदेड़ने के लिए एक फालतू दरबान तैनात कर दिया गया।

एक दिन सवेरे वैद्यनाथ बाबू के संगमरमर के दालान पर एक

मोटी तोंदवाले संन्यासी आसन जमाए दो सेर मोहनभोग और डेढ़ सेर दूध का भोग लगा रहे थे और वैद्यनाथ बाबू एक चदरा ओढ़े, हाथ जोड़े, विनीत ढंग से फर्श पर बैठे भक्ति-भाव से पवित्र भोजन-कार्य का निरीक्षण कर रहे थे। ऐसे समय किसी तरह से दरबानों की निगाह बचाकर एक दुबले-पतले बच्चे को साथ लिए एक बहुत ही मरियल-सी औरत मकान के अन्दर घुस आई और बहुत ही धीमी आवाज़ में बोली, "बाबूजी, कुछ खाने को दो !"

वैद्यनाथ घबराकर चिल्लाने लगे, "गुरुदयाल ! गुरुदयाल ! !" रंग बिगड़ते देखकर उस औरत ने बड़े ही करुण स्वर में कहा, "अजी, इस बच्चे को दो कौर खाने को दो ! मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

गुरुदयाल ने आकर मां और बच्चे को बाहर भगा दिया। वह भूख से तड़पता अन्नहीन बच्चा वैद्यनाथ का इकलौता बेटा था। एक सौ हट्टे-कट्टे ब्राह्मण और तीन बलवान संन्यासी वैद्यनाथ को पुत्र-प्राप्ति की दुराशा में प्रलुब्ध कर उनका अन्न खाने लगे।

रचनाकाल :
ज्येष्ठ, १३०५, बंगाब्द
सन् १८९८ ई०

अब तक प्रकाशित

७० हिन्द पॉकेट बुक्स

उपन्यास

आभा	आचार्य चतुरसेन
बीते दिन	जैनेन्द्रकुमार
बड़ी-बड़ी आंखें	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
बर्फ़ का दर्द	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
ग़द्दार	कृश्न चन्दर
एक गधे की आत्मकथा	कृश्न चन्दर
देवदास	शरत्चन्द्र
आनन्द मठ	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय
आरती	ताराशंकर बन्द्योपाध्याय
क्रांतिकारी	जयन्त वाचस्पति
मुक्ता	सत्यकाम विद्यालंकार
संकल्प	हंसराज 'रहबर'
छोटी-सी बात	रांगेय राघव
दायरे	रांगेय राघव
अंधेरा उजाला	ख्वाजा अहमद अब्बास
प्यार की पुकार	ख्वाजा अहमद अब्बास
डाक्टर देव	अमृता प्रीतम
एक सवाल	प्रीतम
कसक	प्रीतम
कुलटा	राजेन्द्र यादव
ज्वारभाटा	मन्मथनाथ गुप्त
जाल	मन्मथनाथ गुप्त
भूल :	गुरुदत्त
अधूरा सपना :	अनन्त गोपाल शेवड़े
कलाकार का प्रेम :	राजबहादुर सिंह

एक स्वप्न, एक सत्य	यशदत्त
एक लड़की : दो रूप	रजनी पनिकर
छलना	गोर्की
प्यार की ज़िन्दगी	टाल्सटॉय
संघर्ष	चेखव
एक अनजान औरत का खत	स्टीफेन ज़्विग
प्रेमिका	लिन यूताङ
पहला प्यार	तुर्गनेव
सागर और मनुष्य	अर्नेस्ट हेमिंग्वे
इंसान या शैतान	स्टीवेन्सन
अधिकार	प्रेमेन्द्र मित्र
दो बहनें	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
जुदाई की शाम	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
बहूरानी	रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कहानी

पंचतन्त्र	आचार्य विष्णुशर्मा
काबुलीवाला	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
पतिता	आचार्य चतुरसेन
रहस्य की कहानियां	एडगर ऐलन पो
बंगला की सर्वश्रेष्ठ कहानियां	राधेश्याम पुरोहित
उर्दू की सर्वश्रेष्ठ कहानियां	प्रकाश पंडित
संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियां	बालकृष्ण एम० ए०
घोंसला	किशोर साहू

काव्य शायरी

मेघदूत	कालिदास
गीतांजलि	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमगीत	क्षेमचन्द्र 'सुमन'
जिगर की शायरी :	जिगर
दीवान-ए-ग़ालिब :	ग़ालिब

उमर खैयाम की रुबाइयां : 'बच्चन'
गाता जाए बंजारा : साहिर लुधियानवी
आज की उर्दू शायरी : प्रकाश पंडित

जीवनोपयोगी

सफल कैसे हों स्वेट मार्डेन
जैसा चाहो वैसा बनो स्वेट मार्डेन
प्रभावशाली व्यक्तित्व स्वेट मार्डेन
सफलता के आठ साधन जेम्स ऐलन

विविध

शकुन्तला कालिदास
घूंघट में गोरी जले कृश्न चन्दर
गांधीजी की सूक्तियां डा० राजबहादुर सिंह
पत्र लिखने की कला प्रो० विराज एम० ए०
बर्थ कंट्रोल डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा
योगासन और स्वास्थ्य डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा
ठीक खाओ, स्वस्थ रहो शुकदेवप्रसाद सिंह
आपका शरीर आनन्द कुमार
हस्त-रेखाएं प्रकाश दीक्षित
अमर वाणी 'मानसहंस'

प्रत्येक का मूल्य एक रुपया।

यदि आप चाहते हैं कि नित नई प्रकाशित होने-वाली हिन्द पॉकेट बुक्स की सूचना आपको मिलती रहे तो अपना पता हमें लिख भेजें। हम आपको इस विषय में नियमित जानकारी भेजते रहेंगे।

हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटिड

जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली—३२